गुरुवर डा० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
को सादर समर्पित

दो शब्द

'हिन्दी साहित्य परिचय' साहित्य विषयक उपलब्ध सामग्री के आधार पर लिखित संक्षिप्त इतिहास एवं विवेचन मात्र है। इसके लिखने में छात्रोपयोगिता पर ध्यान दिया गया है। सरल-सुबोध ढंग से साहित्य के विभिन्न कालों, उनकी मुख्य प्रवृत्तियों, विशेषताओं, महत्वपूर्ण रचनाकारों और उनकी कृतियों का यथासंभव आलोचनात्मक परिचय देने की चेष्टा की गई है। सर्वश्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नगेन्द्र प्रभृति सर्वमान्य इतिहासकारों एवं साहित्यालोचकों के ग्रंथों से जो आधारभूत सहायता मिली है उसके लिए लेखक ऋणी है।

पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में अपने शिष्य प्रो० भोलाराम एम० ए० एवं प्रूफ संशोधन व संपादन में भाई कृष्णाचार्य से जो सहयोग मिला है उसके लिए लेखक कृतज्ञ रहेगा।

रावर्टसन कालेज
जबलपूर

'अंचल'

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य के आरंभिक विद्यार्थियों को सुलभ रूप में हिन्दी साहित्य का ज्ञान और परिचय देने वाली पुस्तकों का हिन्दी में अभाव नहीं है। किन्तु ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी जो सरल भाषा में अनावश्यक विस्तार को छोड़कर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पुस्तक के ढंग पर साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों की मनस्तुष्टि निर्भ्रान्ति और प्रामाणिक रूप से कर सके। हमें यह लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि श्री अंचल जी ने इस कमी को भली भाँति पूरा किया है। यह पुस्तक प्रथमा परीक्षा के लिए तैयार की गई है और हमें विश्वास है कि इंटरमीडियेट परीक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी यह उपयोगी सिद्ध होगी। आशा है कि हिन्दी जगत इस पुस्तक का उचित समादर करेगा।

दयाशंकर दुबे
साहित्य मन्त्री

विषय-सूची

पृष्ठ

हिन्दी साहित्य परिचय

विषय-प्रवेश

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। इस परिभाषा का इसके अतिरिक्त और क्या आशय हो सकता है कि मानव हृदय की सता-सत् वृत्तियों का जो उतार-चढ़ाव समाज-व्यवस्था के माध्यम से अभि-व्यक्त होता रहता है उसकी छाप उस काल के रचे हुए साहित्य पर पूर्ण रूप से पड़ती है। साहित्य शब्द को उसके व्यापक अर्थ में लेने का यह स्थल नहीं है। साहित्य से मेरा तात्पर्य उन लिखित अलिखित पुस्तकों से है जिनकी एक निश्चित शैली और स्वरूप होता है, जिनका विषय मानव-स्वभाव के मूल तत्वों से संबंधित है और जो इस कारण सब समय के पाठकों को प्रभावित करती रहती हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, हम कह सकते हैं कि किसी जाति के साहित्य का इतिहास उसकी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास-स्तर तथा विशेष परिस्थितियों की मानव पर प्रतिक्रिया का सांगोपांग विवेचन है। यही कारण है साहित्य का इतिहास लिखते समय लेखक को सदैव तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक पृष्ठभूमि से आरंभ करना पड़ता है।

हिन्दी भाषा और साहित्य का जो स्वरूप हमारे सामने आज है उसके पीछे विकास की एक लंबी परंपरा लगभग एक हजार वर्ष के समय के दोनों छोरों को अपने में समेटे हुए है। विद्वानों ने इस समय को चार कालों में विभक्त किया है जो इस प्रकार है :

(१) वीरगाथा काल या आदिकाल—संवत् १०५० से १३७५ विक्रमी
(२) भक्तिकाल या पूर्वमध्यकाल — ,, १३७५ ,, १७०० ,,
(३) रीतिकाल या उत्तरमध्य काल — ,, १७०० ,, १९०० ,,
(४) खड़ी बोली का गद्यपद्य काल या आधुनिक काल १९०० से आज तक

यह काल-विभाग काल विशेष की प्रधान प्रवृत्तियों को ध्यान में रख कर किया गया है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी एक काल में कोई प्रवृत्ति विशेष अपनी पूर्ण शुद्धता में नहीं मिल सकती। दूसरी प्रवृत्तियों का कुछ न कुछ आभास मिलना आवश्यक है। उदाहरण के लिये वीरगाथा काल में शृंगार रस की रचनायें होती रही हैं। उसी प्रकार भक्ति काल या रीति काल में भी वीर रस के अनेक काव्य मिल जायंगे, जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा वीर गाथा कालीन पद्धति से की गई है। भारत जैसे विराट देश में प्रवृत्तियों का ऐसा नपा तुला एकीकरण हो सकना संभव भी नहीं है।

अब विकास की इस लंबी परंपरा में हमें यह देखना चाहिए कि हिन्दी भाषा का प्राथमिक स्वरूप क्या था और वहाँ से उसने कितनी विकास की सीढ़ियाँ चढ़ कर अपना वर्तमान रूप ग्रहण किया।

विशुद्ध अथवा वैदिक संस्कृत तो विशुद्ध आर्यों की भाषा थी। जब वे भारतवर्ष के विभिन्न भागों में आकर बसे तो यह स्वाभाविक था कि जन साधारण के उपयोग की भाषा उनकी संस्कृत से भिन्न होती। संस्कृत की प्राचीन शुद्धता अक्षुण्ण न रखी जा सकी और शिक्षित समाज की तत्कालीन प्रचलित भाषा प्राकृत कहलाई। अशिक्षित जन साधारण के उपयोग से यह प्राकृत भी दूषित हुई और, जैसा कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" में लिखा है, प्राकृत

की अंतिम* अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। पुराने ग्रंथों से चार प्रकार की प्राकृतों का पता लगता है—प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। अपभ्रंश किसी एक देश की भाषा नहीं किन्तु मागधी आदि भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओं के बिगड़े हुए रूप वाली मिश्रित भाषा का नाम है। भारत के दूर दूर के विद्वान इसका प्रयोग करते थे। राजपूताना की डिंगल भाषा के गीत इसी भाषा के विकृत रूप में हैं। उस समय के प्राप्त ग्रंथों से जान पड़ता है कि अपभ्रंश साहित्य बहुत विस्तृत और उन्नत था। इस भाषा के साहित्य में जैनियों ने बहुत परिश्रम किया है। पंडितों के मतानुसार अपभ्रंश भाषा ईसवी सन के प्रथम शतक में आभीरी भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। छठी शताब्दी में इस भाषा में साहित्य बन चुका था। नवीं शताब्दी में यह जन साधारण की भाषा समझी जाने लगी। ११वीं शताब्दी में अपभ्रंश का व्यवहार लोकभाषा के अर्थ में होने लगा। अपभ्रंश कविता के विषय अधिकतर नीति संबंधी और धार्मिक उपदेश, शृंगार रस की रचनायें और लोक प्रचलित कथानक थे। इस प्रकार मुसल्मानी शासन के बहुत पूर्व से ही लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था।

व्रजभाषा पिंगल के नाम से चली और इसकी उत्पत्ति भी अपभ्रंश से ही हुई। इसी प्रकार अवधी, बुंदेलखंडी और मैथिली भाषाएँ

---

* इस भाषा का नाम अपभ्रंश इसलिए पड़ा कि इसमें संस्कृत शब्दों के अपभ्रष्ट (बहुत ही भ्रष्ट) रूप ग्रहण किये गये थे। संस्कृत के पंडितों ने इसे तिरस्कार के भाव से यह नाम दिया था। आगे चलकर यह अपभ्रष्ट रूप ही भाषा का शृंगार बन गया। उच्चारण की मृदुता और अर्थ की मार्मिकता इसी रूप-भ्रष्टता के कारण भाषा में आई।

क्रमशः अवध, बुंदेलखंड और मिथिला (मगध) के प्रांतों में विकसित हुईं।

आधुनिक युग के पहले हिन्दी कविता की छः धाराएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं—डिंगल, निर्गुण, कृष्ण भक्ति, राम भक्ति, सूफी मत और रीति काव्य। ये छहों धारायें अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास हैं।

: २ :

अपभ्रंश काल

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है अपभ्रंश या लोकभाषा प्राकृत का ही विकसित रूप है। हिन्दी-साहित्य का आदि काल संवत १०५० . १३७५ तक है। यह महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर-देव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। इस काल के प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर जो साहित्य रचा गया उसमें कोई विशुद्ध प्रवृत्ति नहीं मिलती। मुसलमान-आक्रमण के आरंभ होने के पश्चात् रच-नाओं में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ लक्षित होने लगीं *। राजाश्रित कवि और चारण नीति, शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे और अपने आश्रय देने वाले राजाओं के पराक्रम के वर्णन भी करते थे। यह प्रबन्ध-परंपरा रासो के नाम से पाई जाती है।

इस समय की प्राप्त होने वाली अधिकांश सामग्री संदिग्ध है। यह अपभ्रंश प्राकृताभास हिन्दी है। इसका मतलब यह है कि इस समय के काव्यों में प्रयुक्त होने वाली हिंदी उस समय के बोलचाल की भाषा

---

* इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व ही निश्चित रूप से अपभ्रंश को राजकीय सम्मान प्राप्त होना कारण हो गया था। कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता कि कोई कवि लोक भाषा में लिखने के कारण अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द अपभ्रंश का अंतिम कवि अधिक है, हिन्दी का आदि कवि कम।

नहीं है वरन् परंपरा से चली आती हुई काव्य की भाषा है। अप-भ्रंश की यह परंपरा विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी तक चलती रही।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि जब से प्राकृत बोल-चाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश-साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पुरानी काव्य-भाषा में नीति, शृंगार और वीर रस की कविताओं के अतिरिक्त जैन और बौद्ध धर्म के पंडितों ने अपने उपदेश और मत प्रतिपादन भी किये हैं। बोलचाल में प्रयुक्त होने वाला प्राकृत का अपभ्रंश स्वरूप देश भाषा कहलाता था। जब वह साहित्य में प्रयुक्त होने लगा तो अपभ्रन्श कहलाया।

इस काल में बौद्ध धर्म विकृत हो गया था और वज्रयान संप्रदाय के रूप में अपने तंत्र मंत्र द्वारा जनता पर प्रभाव जमा रहा था। इस धर्म के सिद्ध अपभ्रंश मिश्रित देश भाषा में अपना उपदेश सुनाते थे। इन तांत्रिकों ने धर्म के नाम पर बहुत भ्रष्टाचार फैलाया। इनके मतानुसार सिद्धि के लिए मदिरा और स्त्री-सेवन अनिवार्य था। बौद्ध धर्म इस समय शनैः शनैः लोक धर्म की ओर झुक रहा था। गोरख के नाथपंथ की उत्पत्ति भी वज्रयान शाखा से ही है*। इस पंथ की साधना हठ-योग से ईश्वर प्राप्त करने का मार्ग बताती थी। इस पंथ में ईश्वर के बाह्य उपादानों की ओर उपेक्षा प्रकट की गई है। अपनी आत्मा के भीतर ही ईश्वर-प्राप्ति पर जोर दिया गया है। ये नाथपंथी योगी

---

* सिद्ध पंथ के वामाचारों की प्रतिक्रिया के रूपमें नाथ वर्ग उठा था। पर लगता है अपने सुधारों की चेष्टा में यह वर्ग सफल नहीं हुआ। नाथ पंथ १० वीं, ११ वीं शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी के पश्चिमी क्षेत्र में प्रमुख रहा और आज भी सारे भारत की दन्तकथाओं, लोकगीतों, मठों और टीलों के रूप में उनके अवशेष चिह्न मिलते हैं।

कनफटे कहलाते हैं। इन्होंने एक अलग सधुक्कड़ी भाषा का उपयोग किया जिसमें राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली का उपयोग हुआ है। इस पंथ की शिक्षा का प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा क्योंकि इस पंथ की साधना में मूर्त्ति पूजा बहिष्कृत थी। इनके ग्रंथ गद्य-पद्य दोनों में पाये गये हैं तथा साम्प्रदायिक शिक्षा से ओतप्रोत हैं। ये ग्रंथ विशुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि इनका मानव की मूल प्रवृत्तियों से किंचित भी संबंध नहीं है। यहाँ इनका जिक्र इसलिए करना पड़ा कि एक तो इनकी भाषा देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा है जो उस समय व्यापक काव्य भाषा थी, दूसरे इन रचनाओं की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति से संस्कार की एक परंपरा चल पड़ी। इस पंथ ने बाह्य की उपेक्षा कर अंतर पर जोर दिया और इस प्रकार अशिक्षितों में अपना प्रभाव फैलाया। आगे चल कर निर्गुण और सूफीधारा में हम इस प्रवृत्ति का विचित्र मिश्रण पाते हैं। इस प्रकार इन सिद्धों और योगियों के परिचय से तत्कालीन समाज के मनोविज्ञान को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इन साम्प्रदायिक शिक्षा की पुस्तकों के अतिरिक्त सामान्य साहित्य के जिन लेखकों और उनकी रचनाओं का पता लगा है, अब हम उनका संक्षिप्त विवरण देते हैं जो इस प्रकार है :—

हेमचन्द्र—ये १२वीं सदी के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह के यहाँ इनका बड़ा मान था। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का उपयोग हुआ है। इनका दूसरा ग्रंथ 'द्वयाश्रय काव्य' है जिसमें "कुमारपाल चरित" प्राकृत काव्य का भी समावेश है।

सोमप्रभ सूर—ये एक प्रसिद्ध जैन पंडित थे। इन्होंने "कुमारपाल प्रतिबोध" नामक एक संस्कृत-प्राकृत-काव्य संवत् १२४१ में लिखा।

जैनाचार्य्य मेरुतुङ्ग—ने संवत् १३६१ में 'प्रबंध चिंतामणि' नामक एक संस्कृत ग्रंथ की रचना की। इसमें पुराने राजाओं के आख्यान संग्रहीत किये गये हैं। बीच-बीच में अपभ्रंश के पद्य भी उद्धृत हैं। कुछ दोहे राजा भोज के चाचा मुंज के कहे हुए हैं जो अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के पुराने नमूने हैं।

विद्याधर—ये संभवतः विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए थे और इन्होंने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट् के पराक्रम का वर्णन किसी पुस्तक में किया था। पुस्तक का पता नहीं मिलता।

शार्ङ्गधर—ये एक अच्छे आयुर्वेद शास्त्री, कवि और सूत्रकार थे। 'शार्ङ्गधर पद्धति' नामक सुभाषित-संग्रह में इन्होंने अपना परिचय भी दिया है। ये वीर हम्मीर के प्रसिद्ध सभासद राघवदेव के नाती थे। इनका समय विक्रम की १४वीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है।

परंपरा के अनुसार शारंगधर ने "हम्मीर रासो" नामक एक वीरगाथा काव्य की भाषा में लिखा था। किन्तु वह आजकल नहीं मिलता। उसके अनुकरण पर बहुत पीछे रचा गया ग्रन्थ हम्मीर रासो मिलता है।

यहाँ पर अपभ्रंश की रचनाओं की परंपरा खत्म होती है। अपभ्रंश कविता के प्राप्त नमूनों की जाँच से यह पता लगता है कि काव्य-भाषा प्राकृत की रूढ़ियों से बँधी चलती रही। ज्यों ज्यों काव्य-भाषा देश भाषा की ओर अधिकाधिक झुकती गई त्यों त्यों तत्सम संस्कृत शब्द भी उसमें बढ़ते गये। शार्ङ्गधर के पद्यों में इसका प्रमाण मिलता है। इसका एक दूसरा ऐतिहासिक कारण भी प्रतीत होता है। जब यवनों के प्रभुत्व का प्रभाव प्रतिक्रिया के रूप में भाषा पर पड़ा तो भाषा में नये आवेग की उत्तेजना आई। एक नये सामाजिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के शब्दों में धर्म, राजनीति, और समाज तीनों के प्रति एक सतर्क जागरण की भावना फैली। उस समय भारतीयों

को अपने पुराने घिसे हुए तद्भव शब्द बड़े ही निर्बल और अर्थवहन शक्ति शून्य प्रतीत हुए। विदेशी शब्दों से प्रभावित नये शब्दों को अंगीकार करने की अपेक्षा लोगों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक औचित्यपूर्ण समझा।

: ३ :

वीरगाथा काल

पहले ही कहा जा चुका है कि इस काल के प्राप्त बहुत कुछ ग्रंथ संदिग्ध हैं और हमें इन्हीं पर विचार करके संतोष करना पड़ेगा।

इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि मान्यता प्राप्त कवियों के अतिरिक्त जन साधारण में से भी कुछ ऐसे लोग होंगे जो जन साधारण की भाषा में ही गीत दोहे आदि बनाते रहे होंगे। इनमें कुछ सुन्दर कविता भी होगी। राज सभाओं में कहे जाने वाले नीति, शृंगार आदि विषयों में प्रायः दोहों का प्रयोग होता था और वीर रस में छप्पय का। राजाश्रित कवि या तो अपने आश्रयदाता की वीरता का पद्यमय तथा अतिरंजना युक्त बखान करते रहते थे अथवा अपनी वीर दर्प पूर्ण कविताओं से वीरों के हृदय में युद्ध का उत्साह भरा करते थे। ऐसे कवियों की रचनाएँ या तो राजपुस्तकालय में सुरक्षित रहती थीं अथवा ये कवि उन्हें अपने उत्तराधिकारियों को सौंप जाते थे। अतः इन रचनाओं में कुछ हेरफेर होना अनिवार्य था। हमारे साहित्य के आरंभ काल में हमें इसी रक्षित परंपरा की सामग्री मिलती है और इसीलिए 'वीरगाथा-काल' इस युग के लिए उपयुक्त संज्ञा प्रतीत होती है।*

---

*कुछ इतिहासकार वीरगाथा साहित्य के स्थान पर चारण साहित्य नाम अधिक संगत मानते हैं। कारण जिस वातावरण में इस साहित्य की रचना हुई वह शृंगार प्रधान था और जिन लोगों के लिए यह साहित्य रचा जा रहा था वे शृंगार-प्रिय ऐश्वर्यशाली व्यक्ति थे—लोक नायक नहीं।

यहाँ तत्कालीन ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों पर थोड़ा सा प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि साहित्य मानव-मन और वाह्य परिस्थितियों की पारस्परिक प्रतिक्रिया मात्र ही तो है। देश के इतिहास में यह वह समय था जब कि मुसलमान-आक्रमण की चट्टान ने भारतीय जीवन और संस्कृति की मुक्त धारा को रोकने का प्रयत्न आरंभ कर दिया था। पश्चिमी भारत में स्थित बड़े बड़े हिन्दू राज्यों को ही सब से पहले इन हमलों के धक्कों को सहना पड़ा। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् (संवत् ७०४) भारतवर्ष के बल-वैभव का मार्तण्ड वह प्रकाश-पुंज न रहा। प्रकाश-पुंज टूट कर छोटे छोटे राज्यों रूपी क्षीण तारों में परिणत हो गया। इनमें कन्नौज, दिल्ली, अन्हलवाड़ा और अजमेर मुख्य थे और ये ही भारतीय बल-वैभव और सभ्यता के केन्द्र हो गये थे। उधर की भाषा ही आदर्श भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण उसी का प्रयोग करते थे। अतः प्रारंभिक काल के साहित्य की उत्पत्ति इन्हीं राज्यों में हुई और वहाँ की जनता की मनोदशा का प्रतिबिंब हमें उसमें मिलता है। गुप्त साम्राज्य और हर्ष के पश्चात् भारतवर्ष का साम्राज्य खण्ड खण्ड हो गया और चौहान, चंदेल, परिहार, गहरवार आदि पश्चिम में स्थित राजपूत राज्य अपनी प्रभाव-वृद्धि के लिए परस्पर युद्ध-रत हो अपनी राजनीतिक अदूरदर्शिता और संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय देने लगे। शायद यह उस समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति की आवश्यक देन थी। राष्ट्र निर्माण और केन्द्रीय शासन

१२०० ई० के बाद हिन्दू राजाओं का लगभग मूलोच्छेदन हो जाने के बाद जब कवियों को राजाश्रय का अभाव हो गया तब प्रजाश्रय में धार्मिक और लौकिक साहित्य की विशेष रचना होने लगी। चारण साहित्य चाटुकारिता और परम्परा परिपालन तक सीमित रह जाता है।

व्यवस्था और शक्ति-संचालन के लिये जिस मनोबल और राजनीतिक दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है उसका इन राजाओं में बिलकुल अभाव था। वह वैयक्तिक वीरता और वंश-कुलीनता का युग था। देश में एक प्रकार से अव्यवस्थित परिस्थितियों का दौरदौरा था। हमारे हिन्दी-साहित्य का उत्पत्ति-काल युद्ध के संघर्ष का काल था। भारतीय जनता घर की आपस की लड़ाई और विदेशी मुसलमानों के आक्रमण की चक्की में पिस रही थी। सामंतकालीन वैभव और दुर्बलताएँ अपने विनाश के बीज को अपने हृदय में छिपाये उन्नति के शिखर पर आसीन थीं। लड़ाई के जोश के इस वातावरण में भारती की वीणा में संघर्ष का तार ही सब से अधिक झंकृत हुआ और दूसरे कोमल तारों की ध्वनि को उसने कुछ समय के लिए डुबो दिया।

महमूद गजनवी (मृत्यु संवत १०८७) के भारत पर लूट-पाट के हमले और पृथ्वीराज चौहान के साथ उसके युद्धों का वर्णन किसी भी इतिहास की पुस्तक में मिल सकते हैं। पृथ्वीराज के मरने के पश्चात् भी राजपूताने के स्वतन्त्रता-प्रेमी नरेशों ने मुसलमानों से संघर्ष जारी रखा। इनमें सब से प्रसिद्ध पृथ्वीराज के वंशज हम्मीरदेव थे।

यह कवियों के लिए राजा की दानशीलता का अतिरंजित वर्णन कर इनाम पाने का समय नहीं था। शास्त्रार्थों की धूम और विद्वत्ता के चमत्कार के दिन भी ढल गये थे। इस समय तो वही भाट, चारण या कविराज दरबार में आदर का पात्र था जो अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में शत्रु राजा की कन्या-हरण का वर्णन कर सके या जो युद्ध क्षेत्र में जाकर वीरों को जूझने के लिए प्रोत्साहित करे अथवा अपने आश्रयदाता राजा के पराक्रम का आलाप करे।

ऐसी दशा में साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति करने के लिए रचना करना असंभव था। उस समय तो केवल वीरगाथाओं की रचना

ही संभव थी। ये वीरगाथायें दो रूप में मिलती हैं—एक मुक्तक और दूसरे प्रवन्ध के रूप में। योरप में भी उस समय इसी प्रकार का साहित्य रचा जा रहा था। वहाँ वह एपिक (Epic) कहलाता है। दोनों देशों के तत्कालीन साहित्य एक विशेष सामाजिक और ऐतिहासिक परि-स्थिति की उपज हैं। अतः दोनों में विषय-साम्य होना स्वाभाविक है। इन वीरगाथाओं अथवा एपिक का विषय युद्ध तथा प्रेम रहा है। संयोगिता और पृथ्वीराज की प्रेम कथा जन साधारण के ज्ञान का विषय है। इस समय के काव्यों में प्रधान रस वीर है और शृंगार केवल गौण रूप में ही आता है। इनके विषयों में कल्पना का भी काफी समावेश रहता था।

ये वीरगाथायें प्रवन्ध काव्य और वीर गीतों के रूप में मिलती हैं। साहित्यिक प्रवन्ध का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ "पृथ्वीराज रासो"* है। वीर गीत (अंग्रेजी के वैलेड्स Ballads) की सब से पुरानी पुस्तक "वीसलदेवरासो" मिलती है। ये वीरगीत जनता द्वारा बरावर गाये जाते रहे अतः उनकी मूल भाषा में क्रमशः परिवर्तन होता रहा जो स्वाभा-विक था। इसका सव से अच्छा उदाहरण "आल्हा" है।

अव हम वीरकाल के कुछ मुख्य ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण देते हैं। ये रासो कहलाते हैं और संभवतः 'रसायण' शब्द से ही रासो शब्द वना है। रसायण का अर्थ काव्य है।

खुमानरासो—संवत् ८१० और १००० के वीच चित्तौड़ में खुमान नाम के तीन राजा हुए। वर्तमान रासो में संभवतः द्वितीय खुमान

* रासो शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक मत हैं। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति रहस्य से मानते हैं। जैन साहित्य में रास-छंद का प्रयोग हुआ है और चरित्र ग्रन्थों को रासो कहा गया है। यह भी कल्पना की जा सकती है कि चारण रासा का संबंध जैन रासो से हो। रासा भी चरित्र ग्रन्थ है।

का वर्णन है जो बगदाद के खलीफा अलमानूँ की सेना से लड़ा था। वर्तमान रासो में महाराणा प्रताप तक के युद्धों का वर्णन है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह रासो जिस रूप में अब मिलता है वह उसे विक्रम की १७वीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। यह रचना अपूर्ण है और यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कितना अंश पुराना है।

बीसलदेवरासो—नरपति नाल्ह कवि बीसलदेव का समकालीन और संभवतः दरबार का कवि था। इसका ग्रंथ "बीसलदेव रासो" १०० पृष्ठों का एक छोटा सा ग्रंथ है जो वीर गीतों के रूप में है। इसकी रचना विक्रम संवत् १२१२ में हुई। स्वयं ग्रन्थ में निर्माण-काल का उल्लेख इस प्रकार है—

> **बारह से बहोत्तराँ मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।**
> **'नाल्ह' रसायण आरंभइ। सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि॥**

इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है। बीसलदेव का विवाह मालवा के भोज़ परमार की पुत्री राजमती से हुआ। बीसलदेव अपनी पत्नी से रूठ कर एक वर्ष तक उड़ीसा में रहता है। राजमती वियोग में कातर होती है और उसका पति वापिस आ जाता है। भोज अपनी पुत्री को घर ले जाता है और बीसलदेव उसे मना कर चित्तौड़ लाता है।

यह काव्य वर्णन-प्रधान है। इसकी अधिकांश बातें इतिहास-सम्मत नहीं हैं और मनमानी कल्पना का योग पर्याप्त मात्रा में मिलता है। अजमेर का चौहान राजा बीसलदेव बड़ा प्रतापी था और उसने भारतवर्ष के अनेक प्रदेशों से मुसल्मानों को निकाल बाहर किया था। पर उक्त रासो में इस राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन नहीं है। अतः रासो इस पुस्तक के लिए उपयुक्त शब्द नहीं जान पड़ता। पर इस दृष्टि से कि इस पुस्तक की रचना गीतों में हुई है, बहुत कुछ समाधान

हो जाता है। इसे प्रवन्धात्मक गीति काव्य कहा जा सकता है। भाषा असंस्कृत है और रचना में साहित्यिक सौन्दर्य कम है। केवल इस ग्रन्थ की प्राचीनता इसे वह महत्व दे देती है जो अन्य दशा में इसे प्राप्त नहीं हो सकता था। जिस रूप में भी यह आज है वह भाषा विज्ञान के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है। इसकी भाषा राजस्थानी है। वस्तु और भाषा दोनों के विचार से यह पुस्तक अपने मूल रूप में नहीं कही जा सकती। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा के मतानुसार यह रासो हम्मीर के समय की रचना है। इस पुस्तक की भाषा की जाँच करने पर हम एक दो भाषा संबंधी तथ्य निकाल सकते हैं। हमें राजस्थानी में हिन्दी का मेल मिलता है। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रादेशिक वोलियों के साथ साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय ले कर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो पिंगल भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश और राजस्थानी का योग डिंगल कहलाता था। दूसरे, इस ग्रंथ में शृंगार और वीर का योग हमें मिलता है। इसमें शृंगार ही प्रधान है। गीति काव्य का रूप होते हुए भी इसमें एक प्रबन्ध चलता है।

चंदबरदाई भाटः—(संवत् १२२५-४९) ये हिन्दी के पहले महाकवि माने जाते हैं और इनका रचित 'पृथ्वीराजरासो' प्रथम महाकाव्य के ऐतिहासिक आसन पर प्रतिष्ठित किया जाता है। ये महाराज पृथ्वीराज के सामन्त और राजकवि थे। इनके नाम मात्र से भावुक हिन्दू के हृदय की तंत्री झंकृत हो उठती है। इन्होंने अपने स्वामी तथा प्रिय मित्र पृथ्वीराज का मृत्युपर्यंत साथ दिया और उन्हीं के साथ चिन्ता से मुक्ति दिलाने वाली मृत्यु की प्रशस्त गोद में विश्राम किया। चंद अनेक विद्याओं में प्रवीण थे और पृथ्वीराज के अन्तरंग सखा थे। कहा जाता है कि इन्हें जालन्धरी देवी का इष्ट था जिससे ये अदृष्ट काव्य भी कर सकते थे।

पृथ्वीराज रासो ढाई हजार पृष्ठों का बृहत् काव्य ग्रंथ है। इसमें ६१ सर्ग हैं। प्राचीन काल के प्रायः सभी छन्दों का उसमें व्यवहार हुआ है जिनमें मुख्य कवित्त, त्रोटक, दूहा, तोमर और आर्या हैं। ऐसी किंवदन्ती है कि रासो का उत्तर भाग चंद के पुत्र जल्हण ने लिखा था। जब पृथ्वीराज कैद हो गये और गजनी ले जाये जाने लगे तब चंद—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज'

पृथ्वीराज रासो में आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा चोहानों का अजमेर में जमने और पृथ्वीराज के कैद होने तक का वर्णन है। संयोगिता - स्वयम्वर की घटना के बाद किस प्रकार पृथ्वीराज और जयचन्द में परस्पर शत्रुता हो गई और किस प्रकार परस्पर के इस युद्ध से भारतीय शक्ति का नाश होता रहा, यह परंपरागत कहानियों से प्रत्येक व्यक्ति जानता है। किस प्रकार चंद के संकेत से चक्षुविहीन चोहान ने शहाबुद्दीन को गजनी दरबार में शब्द-वेधी बाण मारा और किस प्रकार चंद और चौहान मरे, यह भी परंपरागत कथाओं में चला आता है। ऐतिहासिक तथ्यों तथा रासो के वृत्तान्त में सामंजस्य न होने के कारण विद्वानों ने इसे १६वीं शताब्दी में रचित एक जाली ग्रन्थ ठहराया है। रासो में चंगेज और तैमूर का उल्लेख भी पाया जाता है जिससे यह संदेह पुष्ट होता है। प्रसिद्ध विद्वान् ओझा जी इसे भाटों की कल्पना मात्र मानते हैं। इसके विपरीत काश्मीरी कवि जयानक के 'पृथ्वीराज-विजय' अधूरे काव्य में दिये हुए संवत् तथा वृत्तान्त ऐतिहासिक तथ्यों तथा संवतों से पूरा मेल खाते हैं। इससे यह ग्रंथ प्रामाणिक और समसामयिक रचना सिद्ध होता है।

विद्वानों ने चंद और उनके रासो के सम्बन्ध में जो मत स्थिर किया है वह इस प्रकार है। यह बिल्कुल जाली ग्रंथ है क्योंकि इसमें वर्णित घटनाओं

और संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों और संवतों से बिल्कुल मेल नहीं बैठता। माना कि काव्य-ग्रंथ इतिहास नहीं होता और न उस से इतिहास के कार्य की आशा ही की जाती है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि बिना प्रयोजन ही काव्य-ग्रन्थ सूक्ष्म घटनाओं का उलटफेर कर ऐतिहासिक सत्य का गला घोंट दे। हो सकता है कि चंद के कुछ छंद रासो में इधर उधर फैले हों किन्तु उनका पता लगना प्रायः असंभव सा ही है।*

अब रही चंद की बात। जयानक के प्रामाणिक ग्रन्थ पृथ्वीराज-विजय में चंद का कोई सीधा उल्लेख नहीं है। संभव है कि पृथ्वीराज के किसी वंशज के यहाँ कोई इस नाम का कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता के कुछ वर्णन किये हों और उन वर्णनों तथा पीछे की कल्पित सामग्री से 'पृथ्वीराजरासो' बना दिया गया हो।

रासो की भाषा और व्याकरण में भी व्यवस्था का सर्वथा अभाव दिखता है। कहीं आधुनिक भाषा है तो कहीं संस्कृत-प्राकृत का बाहुल्य है। इस बुद्धि भ्रामक वाग्जाल में असली अंश का पता लगाना असंभव है। रासो की भाषा न मूल अपभ्रंश है न मूल राजस्थानी। अतः यह इतिहास और साहित्य दोनों के काम का नहीं है।

---

* इतिहास लेखक गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और हीरालाल शास्त्री इसकी घटनाओं को इतिहास की परख से इसे बहुत बाद की रचना सिद्ध करते हैं। श्री विष्णुलाल पंड्या, श्यामसुन्दरदास और हरिप्रसाद शास्त्री पुस्तक को पूर्णतया संदिग्ध नहीं मानते। आचार्य शुक्ल और आचार्य धीरेन्द्र वर्मा इन दोनों मतावलंबियों के बीच का मार्ग ग्रहण करते हैं। जिन आधारों पर रासो को संदिग्ध कहा जाता है वे रासो से अधिक प्रामाणिक हैं।

भट्ट केदार और मधुकर कवि :—भट्ट केदार जयचन्द के दरबा कवि थे और जो काम चन्द ने पृथ्वीराज के लिए किया वही भट्ट ने ज चन्द के लिए किया। इन्होंने 'जयचन्द-प्रकाश' नामक एक महाका लिखा जिसमें जयचन्द के शौर्य का अतिरंजित वर्णन है। इसी प्रका एक 'जयमयंक जसचंद्रिका' नामक ग्रन्थ भी रचा गया जो आज कल न मिलता।

जगनिक :—(सं० १२३०) इनका महोबे के प्रसिद्ध वीर आल्ह और ऊदल के चरित्र का वीर गीतों के रूप में वर्णन प्रसिद्ध है। ये कालि जर के राजा परमाल के भाट थे। इनका काव्य बड़ा ही लोकप्रि हुआ और समस्त उत्तर भारत में आज भी जन साधारण द्वारा वर्षा काल में गाया जाता है। जगनिक का मूल काव्य तो आज कल नह मिलता पर उसके आधार पर रचित गीतों का 'आल्हा' के नाम से आ भी प्रचलन है। बरसात में किसी गाँव में चले जाइये तो ढोलों की गंभी ध्वनि के साथ आपको इन पंक्तियों से वीरदर्प साकार हुआ सा मिलेगा—

> **बारह बरिस लैं कूकर जीऐं, औ तेरह लै जिऐं सियार।**
> **बरिस अठारह क्षत्री जीऐं, आगे जीवन के धिक्कार॥**

या शृंगार की मार्मिकता से भरी ये मनभावनी पंक्तियां :—

> **कारी बदरिया बहिन हमारी कौंधा बीरन लगें हमार**
> **आज बरसजा मोरी कनउज में कन्ता एक रैन रहि जांय**

आल्हा की पंक्ति पंक्ति में वीरोल्लास और रणगर्जना है। य सच्चे अर्थ में जनकाव्य और लोक गीत हैं। प्रबन्धत्व होते हुए भ इसकी ओजभरी गति और गेयता ने इसे कंठ कंठ के बोलों में उतारा प्रामाणिकता की दृष्टि से इसकी दशा रासो से भी बुरी है।

इस प्रकार साहित्यिक रूप के अभाव में भी यह जनता के कंठ में जीवन-दान पा कर संगीत की यह वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि आज तक चली आ रही है। समय इसके कलेवर को क्रमशः बदलता रहा और भाषा में भी रद्दोबदल होता रहा। यह ग्रंथ गाने के लिए ही लिखा गया था और जनता ही इसकी सच्ची धात्री रही। पर आज हमारे पास प्रतिध्वनि मात्र बची है, मूल ध्वनि काल के गर्त्त में विलीन हो गई। बुंदेलखंड में आल्हा का बहुत रिवाज है।

आल्हा और ऊदल परमाल के दरबारी थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का संग्रह आल्हाखंड के नाम से छपा है।

श्रीधर:—संवत् १४५४ में इन्होंने "रणमल्ल छंद' नामक एक काव्य रचा जिसमें राठौर राजा रणमल्ल की पाटन के सूबेदार जफर खाँ पर प्राप्त विजय का वर्णन है।

: ४ :

वीरगाथा की फुटकल रचनाएँ

वीरकाल के खतम होते होते हमें जनता की बोलचाल की असल भाषा के रूप और भावनाओं की अभिव्यक्ति का बहुत कुछ पता चलता है। यह पता हमें खुसरो मियाँ और विद्यापति की कविताओं से लगता है। पहले समय में जन साधारण की भाषा में रचित पद्यों को संभाल कर रखने की किसी ने चेष्टा नहीं की। परंपरा से चली आती हु रूढ़ भाषा ही कविता का उपयुक्त माध्यम समझी जाती रही। जिस प्रका पश्चिम की बोलचाल और गीत का नमूना हमें खुसरो की पहेलियों मिलता है उसी प्रकार पूर्व की बोलचाल का अंदाज हमें विद्यापति के प से होता है। इसके बाद भक्तिधारा के कवियों ने प्रचलित बोलचा की भाषा और साहित्य के बीच पूरा पूरा सामंजस्य पैदा कर दिया।

खुसरो—इनकी रचना का समय संवत् १३४० के आस पास है ये फारसी के अच्छे लेखक और अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। ये ब ही भावुक और मिलनसार थे। जनता के जीवन से एकाकार हो की इच्छा से इन्होंने जनता में प्रचलित दोहे और पहेलियों के ढंग पर अपनी रचना की जो अभी तक प्रसिद्ध है। इनमें उक्ति-वैचित्र्य पाया जाता है और कुछ रसीले गीतों की रचना भी इन्होंने की है।

इनका समय मुसल्मानी शासन का प्रारंभ काल था। अत दिल्ली और मेरठ के पास बोली जाने वाली भाषा में कुछ परिवर्त अवश्यंभावी था। यही भाषा वर्तमान खड़ी बोली का आदि स्वरूप है यह ध्यान में रखने की बात है कि पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल क

भाषा का झुकाव ब्रजभाषा की तरफ़ था। अतः खुसरो की पहेलियों, मुकरियों और दो सखुनों में ठेठ खड़ी बोलचाल की भाषा मिलती है पर उनके गीतों की भाषा ब्रज भाषा ही है।

खुसरो की पहेलियों की भाषा का चिकनापन देखकर कभी कभी आश्चर्य होने लगता है। यह ठीक है कि इस कवि ने प्राकृत की रूढ़ियों से ग्रस्त काव्य भाषा का व्यवहार नहीं किया। यह भी माना जा सकता है कि पहलियों की भाषा में आगे चलकर कुछ परिवर्त्तन हो गया होगा और कुछ चीजें दूसरों ने भी जोड़ दी होंगी। किन्तु उस समय भाषा का इतना परिमार्जित स्वरूप होना फिर भी आश्चर्य का विषय है। संभव है कि बोलचाल की भाषा घिसकर इस रूप में आ गई हो। और फिर खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक था। खुसरो की कविता के कुछ नमूने ये हैं—

एक नार ने अचरज किया। साँप मारि पिंजड़े में दिया॥
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए॥

अथवा

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल। कैसे गर दीनी बकस मोरी माल॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरह अगि मोहि डस डस जाय।

विद्यापति—इनकी पदावली बड़ी प्रसिद्ध है और उसकी कोमलता व सरसता के कारण ये 'मैथिल-कोकिल' कहलाए। ८०० मैथिल गीतों के अतिरिक्त इनके रचे आठ संस्कृत ग्रन्थ भी हैं। इन्होंने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा का प्रयोग किया है। बंगला भाषा भाषियों ने विद्यापति को बंगला कवि सिद्ध करने के लिए बहुत सिर पीटा किन्तु अब यह निर्विवाद सिद्ध किया जा चुका है कि मैथिली भाषा मागधी से निकली है और यह हिन्दी भाषा के अन्तर्गत है।

इस कवि ने राधाकृष्ण को नायिका और नायक मानकर शृंगार के पद्य ही अधिकतर लिखे हैं। संभवतः जयदेव इनके आदर्श रहे हों। इनके पदों में अनुपम माधुर्य है। ये शृंगार परंपरा के कवियों में आते हैं। पर ये भक्त कवि हैं या शृंगारी, यह विवाद चला करता है।

इनकी सीधी सादी हृदयहारी शृंगारी कविता में भी आध्यात्मिक अर्थ निकालने के प्रयत्न किये गये हैं। पर यह तो आजकल का फैशन हो गया है। हमें इन पचड़ों में पड़ने की आवश्यकता नहीं। हमारे लिए इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि उनके पद शृंगार रस की बड़ी हृदयहारी अभिव्यक्ति हैं। उदाहरण लीजिये:—

> सखि की पुछसि अनुभव मोय
> सोइ पीरिति अनुराग बखानित नित नित नूतन होय
> जनम अवधि हम रूप निहारल जनम न तिरपित भेल
> से हो मधुर बोल श्रवणहि सुनल श्रुतिपथे परश न गेल,
> कत मधु-भामिनी रभ से गमाउल न बुझल कैसन केल,
> लाख लाख युग हिय हिय राखल तइयों हिया जुड़ल न गेल
> कत विदग्ध जन रस अनुगमन अनुभव काहु न पेख
> विद्यापति कह प्राण जुडाइत लाखे मिलल न एक

भाषा, अलंकार, योजना, शब्द चयन और कल्पना की उड़ान में ये अद्वितीय हैं। वीरगाथा काल का समय हम्मीर तक ही माना गया है। इसके बाद भारत पर मुसलमान शासन क्रमशः बढ़ चला। यह एक क्रांति और परिवर्तन का समय था। निराला जी के 'तुलसीदास' के पहले पद्य में इस दशा का बड़ा ही सुन्दर और चित्रोपम वर्णन है।

> भारत के नभ का प्रभापूर्य
> शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य

अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मंडल;
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान;
है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल ।

समय बदला, समय के साथ भारतीय जीवन और चिंता-धारा ने एक नई दिशा पकड़ी। साहित्य में इस सामाजिक विप्लव का प्रतिबिंबित होना अनिवार्य था। हिन्दी साहित्य ने अपने दूसरे युग में प्रवेश किया जो भक्ति काल कहलाया। हमारे अगले अध्याय का विषय यही भक्ति-युग होगा।

पर इससे यह न समझना चाहिए कि इसके बाद वीरकाव्य की रचना हुई ही नहीं। हिन्दी साहित्य में यह धारा आज भी बह रही है—भले ही मन्द गति से हो। हमारे साहित्य की यह विशेषता कुछ मौलिक और कुछ संस्कृतिजन्य मानी जानी चाहिए। कोई भी काव्य-धारा कालान्तर में मन्द भले ही पड़ जाती हो पर उसका स्रोत सूखता नहीं। वीरपंचरत्न (दीन), हल्दीघाटी और जौहर (श्यामनारायण पाण्डेय) आदि कृतियाँ मेरे कथन का प्रमाण हैं जो वीर काव्य का सजीव चित्र उपस्थित करती हैं। इसके बाद तो जो परिवर्तन का युग आया और १२०६ ई० से १५५६ ई० तक सुलतान वंश का शासन और तदुपरान्त मुगलवंश का शासन; उसने देश की काव्य रचना का स्रोत ही बदल दिया। सुलतानों ने न तो भारतीय संस्कृति के समझने का यत्न किया था और न उसमें हस्तक्षेप किया था। मुगलों ने ईरानी-भारतीय संस्कृति की स्थापना की। ये संस्कृति की देशी और विजातीय शक्तियाँ एक दूसरे के घात प्रतिघात करके उन्हें प्रभावित कर रही थीं। इस सांस्कृतिक क्रांति और समन्वय के प्रयत्न का साहित्य में प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य था। भक्ति काल की यही भूमिका उसे उचित कोण से समझने-समझाने में हमें सहायक होगी।

भक्तिकाल सं० १३७५–१७००

(पूर्वमध्य काल)

आरंभ में ही हम विद्यार्थियों का ध्यान एक महत्वपूर्ण बात की ओर आकर्षित करना चाहेंगे। अभी तक अनेक विद्वानों में यह धारणा फैली हुई है कि भारतीय समाज की जिस मनोदशा ने हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल को जन्म दिया उसके उत्पन्न करने में इस्लाम के आक्रमण और शासन का प्रधान हाथ रहा है। इस मत के अनुसार भक्तिकाल, भारतीय चिंतनधारा के स्वाभाविक विकास के अन्तर्गत एक अंग नहीं रह जाता, वरन् विदेशी शासन के भार से व्याकुल और परतंत्र भारतीय मन की व्यावहारिक जीवन की यथार्थताओं से पलायन वृत्ति का द्योतक बन जाता है। जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान और आलोचक पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है, अगर भारत में इस्लाम नहीं आया होता तो भी भक्तिकालीन साहित्य का स्वरूप बारह आना वैसा ही होता जैसा कि इस्लाम के भारत में प्रवेश करने के बाद हम उसे पाते हैं। निश्चित ही हम इस्लाम-शासन के प्रभाव की ओर से बिलकुल आंख मूंदना नहीं चाहते, किन्तु हम यह भी चाहते हैं कि उसको काल्पनिक महत्व नहीं दिया जाय। भक्तिकालीन साहित्य धारा का विश्लेषण करने पर हमें जितने भी तत्व दृष्टिगोचर होते हैं उनके बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनमें से अधिकांश तत्व भारतीय चिंताधारा के स्वाभाविक विकसित रूप हैं। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी जातीय जीवन और संस्कृति का आन्तरिक विदेशी तत्व नहीं हो सकता। यदि हिन्दू जाति और

साहित्य आज जीवित है तो वह अपनी जीवन शक्ति पर ही जीवित है, किसी विदेशी तत्व की दया पर निर्भर नहीं है। भक्तिकालीन काव्य धारा इस बात का प्रमाण है कि काव्य कला द्वारा, संगीतमयी स्वर-लहरी की उच्छ्वासित अनात्म की समर्पण भरी तरंगों द्वारा आत्माभि-व्यक्ति भी सार्वजनिक तथा लोकोपयोगी हो सकती है। दूसरी ओर तुलसी जैसे रामभक्त ने लोककला की परिणति भी आत्म प्रकटीकरण अथवा आत्म प्रकाशन में की है। स्वान्तः सुखाय और वहुजन हिताय के आदर्शों में कोई मौलिक या अन्तर्गत विरोध नहीं है। हमारी प्राणवान संस्कृति के इसी तत्व को भक्तिकालीन कवियों ने पहचाना और उसे युगानुरूप वाणी में प्रकट किया है।

यह सच है कि मुसलमानों की सत्ता स्थापित होने के बाद हिन्दू जनता का हृदय पहले के समान उल्लसित न रह सका। उनके देव मंदिर और मूर्तियाँ उन्हीं के सामने विदेशियों द्वारा अपमानित की जाती थीं और वे असहाय होकर यह दृश्य देखते रहते थे। विदेशी शासन की नींव जमने के बाद छोटे मोटे राजाओं के पारस्परिक युद्धों का भी अंत हो गया। इस राजनीतिक विप्लव के परिणाम स्वरूप जनता के जीवनाकाश में विषाद के काले बादल छा गये। फिर भी इस राज-नीतिक अवस्था और सन्त-साहित्य में कार्य-कारण के सिद्धान्त का लगाना उचित न होगा। सन्त-साहित्य भारत के अतीत की परंपरा-गत चिता-धारा का स्वाभाविक विकास ही है। वाह्य परिस्थितियाँ तो केवल आत्मा के सनातन रहस्य को पहचानने में सहायक हुई थीं। वाहरी परिस्थितियों के अनुपात में जन साधारण की भीतरी मनोदशायें और जीवन स्थितियाँ प्रवुद्ध और विकसित हो रही थीं। भक्त कवियों ने यही चेतना जगाने और पनपाने में योग दिया। उनका काव्य इसी व्यापक और गंभीर साम्य और एकता उत्पन्न करने के मार्ग पर आगे

भक्तिकाल सं० १३७५--१७००

(पूर्वमध्य काल)

आरंभ में ही हम विद्यार्थियों का ध्यान एक महत्वपूर्ण वात की ओर आकर्षित करना चाहेंगे। अभी तक अनेक विद्वानों में यह धारणा फैली हुई है कि भारतीय समाज की जिस मनोदशा ने हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल को जन्म दिया उसके उत्पन्न करने में इस्लाम के आक्रमण और शासन का प्रधान हाथ रहा है। इस मत के अनुसार भक्तिकाल, भारतीय चिंतनधारा के स्वाभाविक विकास के अन्तर्गत एक अंग नहीं रह जाता, वरन् विदेशी शासन के भार से व्याकुल और परतंत्र भारतीय मन की व्यावहारिक जीवन की यथार्थताओं से पलायन वृत्ति का द्योतक वन जाता है। जसा कि प्रसिद्ध विद्वान और आलोचक पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है, अगर भारत में इस्लाम नहीं आया होता तो भी भक्तिकालीन साहित्य का स्वरूप वारह आना वैसा ही होता जैसा कि इस्लाम के भारत में प्रवेश करने के वाद हम उसे पाते हैं। निश्चित ही हम इस्लाम-शासन के प्रभाव की ओर से विलकुल आंख मूंदना नहीं चाहते, किन्तु हम यह भी चाहते हैं कि उसको काल्पनिक महत्व नहीं दिया जाय। भक्तिकालीन साहित्य-धारा का विश्लेपण करने पर हमें जितने भी तत्व दृष्टिगोचर होते हैं उनके वारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनमें से अधिकांश तत्व भारतीय चिंताधारा के स्वाभाविक विकसित रूप हैं। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी जातीय जीवन और संस्कृति का आलंव विदेशी तत्व नहीं हो सकता। यदि हिन्दू जाति और

साहित्य आज जीवित है तो वह अपनी जीवन शक्ति पर ही जीवित है, किसी विदेशी तत्व की दया पर निर्भर नहीं है। भक्तिकालीन काव्य धारा इस बात का प्रमाण है कि काव्य कला द्वारा, संगीतमयी स्वर-लहरी की उच्छ्वासित अनात्म की समर्पण भरी तरंगों द्वारा आत्माभिव्यक्ति भी सार्वजनिक तथा लोकोपयोगी हो सकती है। दूसरी ओर तुलसी जैसे रामभक्त ने लोककला की परिणति भी आत्म प्रकटीकरण अथवा आत्म प्रकाशन में की है। स्वान्तः सुखाय और वहुजन हिताय के आदर्शों में कोई मौलिक या अन्तर्गत विरोध नहीं है। हमारी प्राणवान संस्कृति के इसी तत्व को भक्तिकालीन कवियों ने पहचाना और उसे युगानुरूप वाणी में प्रकट किया है।

यह सच है कि मुसलमानों की सत्ता स्थापित होने के बाद हिन्दू जनता का हृदय पहले के समान उल्लसित न रह सका। उनके देव मंदिर और मूर्तियाँ उन्हीं के सामने विदेशियों द्वारा अपमानित की जाती थीं और वे असहाय होकर यह दृश्य देखते रहते थे। विदेशी शासन की नींव जमने के वाद छोटे मोटे राजाओं के पारस्परिक युद्धों का भी अंत हो गया। इस राजनीतिक विप्लव के परिणाम स्वरूप जनता के जीवनाकाश में विषाद के काले वादल छा गये। फिर भी इस राज-नीतिक अवस्था और सन्त-साहित्य में कार्य-कारण के सिद्धान्त का लगाना उचित न होगा। सन्त-साहित्य भारत के अतीत की परंपरा-गत चिंता-धारा का स्वाभाविक विकास ही है। वाह्य परिस्थितियाँ तो केवल आत्मा के सनातन रहस्य को पहचानने में सहायक हुई थीं। वाहरी परिस्थितियों के अनुपात में जन साधारण की भीतरी मनोदशायें और जीवन स्थितियाँ प्रवुद्ध और विकसित हो रही थीं। भक्त कवियों ने यही चेतना जगाने और पनपाने में योग दिया। उनका काव्य इसी व्यापक और गंभीर साम्य और एकता उत्पन्न करने के मार्ग पर आगे

बढ़ा। उनकी रचनायें जीवन की इन्हीं स्वास्थ्य, प्रणालियों, क्रिया-कलापों तथा अनुभूतियों का क्रमबद्ध, सुसंगठित स्वरूप हैं।

इधर धार्मिक अवस्था पर दृष्टिपात करने से जान पड़ता है कि वह भी अस्थिर और असंतोषजनक थी। सच्चे धर्मभाव का ह्रास हो चुका था। कर्म, ज्ञान और भक्ति के योग और सामंजस्य में ही धर्म अपने पूर्ण और आदर्श स्वरूप में प्रकट होता है। ज्ञान तो जन साधारण की वस्तु होती नहीं, संसार का कार्य प्रायः कर्म और भक्ति से ही चलता है। अपने साहित्य के आदिकाल में कर्म कुछ बाहरी विधि-विधानों में ही सिकुड़ कर रह गया था। वज्रयानी सिद्धों और नाथ-पंथियों ने कर्म के स्वरूप को ही बिगाड़ दिया था। उनकी साधना में प्रेम तथा उससे संबंधित अन्य सरस भावों के लिए कोई स्थान नहीं था। भोली जनता सच्चे कर्म और प्रेम के प्रशस्त मार्ग को छोड़ कर इन सिद्धों और योगियों के तंत्र-मंत्रों में जा फँसी। इसी दशा का वर्णन तुलसी-दास ने इस पंक्ति में किया है—

'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

ऊपर वर्णित दशा सामान्य जनता की थी। अतः इस काल में होने वाले भक्त कवियों ने मानव-हृदय के उन सरस भावों को जागृत करने का प्रयत्न किया जिनसे लोग धर्म के सच्चे स्वरूप को पहचान सकें और अपने सूखे हृदय-उद्यान को भगवत्प्रेम के शीतल और जीवनदायी जल से सींच कर फिर से हराभरा बना सकें। कुछ ही काल में देखते-देखते भक्ति की एक प्रबल बाढ़ ने भारत भूमि के समस्त निवासियों के हृदय-मरु को आप्लावित कर दिया। जैसा कि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, जो लोग इस युग के वास्तविक विकास को नहीं सोचते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया। स्वयं डाक्टर ग्रिय-

सेन लिखते हैं कि "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता।" पर जैसा कि हम पहले कई बार कह चुके हैं; भारतीय चिंताधारा स्वभावतः ही इस ओर अग्रसर होती गई। राम और कृष्ण के रूप में एक युग की संस्कृति मूर्तिमान हो उठी। इन दोनों व्यक्तियों में युग का वैयक्तिक तथा सामूहिक आदर्श चरितार्थ हो उठा। यह विराट समन्वय की क्रिया थी। जिसके मूल में जाति गत और समाजगत प्रगति की प्रवहवान धारा की प्रेरणा थी। जब जब संक्रान्ति काल का उदय होता है तब तब इस प्रकार के देश व्यापी समन्वय की भावना मानवता की चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरों में जन्म लेती है।

भक्ति का यह स्रोत दक्षिण से क्रमशः उत्तर भारत में आया। सुदूर दक्षिण के आलवार भक्तों की परंपरा में प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य श्री रामानुज (सं० १०७३) उत्पन्न हुए। इन्होंने सगुण भक्ति का शास्त्रीय पद्धति से निरूपण किया और धर्म की दृष्टि को मानव मात्र की समता को उच्च स्वर से घोषित किया। दक्षिण का यह वैष्णव मतवाद ही भक्ति आन्दोलन का मूल प्रेरक है।

गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य (संवत् १२५४-१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। पूर्व भाग में जयदेव जी के कृष्ण-प्रेम के सरस गीतों की धूम मची थी। ईसा की १५वीं शताब्दी में रामानुज की शिष्य-परंपरा में रामानन्द जी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया। यह प्रसिद्ध है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई थी। उसे उत्तर भारत में रामानन्द ले आये, और कबीर ने उसे सप्तद्वीप और नवखण्ड में प्रकट कर दिया। दूसरी ओर

वल्लभाचार्य हुये जिन्होंने प्रेम मूर्ति कृष्ण को लेकर भग्नहृदया जनता को प्रेम और आशा का संदेश सुनाया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परंपराएँ चलीं जिनकी रचनाओं ने हिन्दी के सन्तकालीन साहित्य को अमर और अद्वितीय बनाया।

दूसरी ओर मुसलमानों के देश में बस जाने से एक नई परिस्थिति ही पैदा हो गई थी। एक ऐसे सामान्य भक्ति मार्ग की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी जिसमें हिन्दू और मुसलमान समान रूप से भाग ले सकें। वैसे नाथ पंथी योगी और वज्रयानी सिद्ध पहले ही जाति-पाँति के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद कर चुके थे क्योंकि वे स्वयं अधिकतर समाज के निम्न वर्ग के ही लोग थे। अतः एक सामान्य भक्ति-मार्ग कुछ कुछ सिलसिला पहले ही से डाल चुका था। इन जोगियों के पंथ में कुछ मुसलमान भी शामिल हो गये थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं कि "भक्ति आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई। हृदयपक्ष-शून्य सामान्य अंतः साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पंथी कर चुके थे। पर रागात्मक तत्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। भक्त नामदेव (सं० १३२८-१४०८) ने पहले पहल इस सामान्य भक्ति-मार्ग का कुछ कुछ आभास दिया।" उनके पीछे कबीरदास ने उस मार्ग को सुव्यवस्थित कर निर्गुण पंथ के नाम से चलाया। नाथ-पंथियों की अंतः साधना प्रेम तत्व से विहीन थी। कबीर ने इस कमी को महसूस किया और उन्होंने अपने निर्गुण-पंथ में भारतीय वेदांत के निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेम तत्व लिया। कबीर ने यह काम बिलकुल ठीक मौके पर कर के भारतीय जनता के हृदय को

नीरस और शुष्क होने से बचा लिया। उन्होंने मनुष्यत्व की सामान्य भावना पर जोर देकर निम्न वर्ग की जनता में आत्मगौरव जगाया और उसे भक्ति की ओर प्रेरित किया। कबीर के पंथ में ज्ञान और भक्ति का तो योग हुआ पर कर्म को अपना उचित स्थान न मिला। रामभक्ति शाखा में ईश्वर के लोक रक्षक स्वरूप की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई। कृष्ण भक्ति ने केवल प्रेम-रूप अर्थात् लोक रंजनकारी स्वरूप ही अपनाया।

यहाँ एक दो बातें ध्यान में रखने की आवश्यकता है। कबीर का ज्ञान पक्ष तो गुह्य की भावना से विकृत है किन्तु उनका सूफी प्रेम तत्त्व शुद्ध रहा, उसने विलासिता का रूप ग्रहण नहीं किया। कृष्णभक्ति की शाखा में प्रेम तत्त्व कहीं कहीं विलासिता और कामुकता के रोग से ग्रस्त हो गया है। केवल रामशाखा में ही भक्ति अपने पूर्ण रूप में विकसित हुई। इस शाखा में कर्म, ज्ञान और भक्ति अर्थात् धर्म का पूर्ण स्वरूप अपनी पूर्णता पर पहुँचा।

इस निर्गुण पंथ की पहली प्रवृत्ति थी मनुष्य मात्र को समान मानना और ईश्वर की भक्ति का सब के लिए समानाधिकार स्वीकार करना। इस प्रवृत्ति की झलक हम सर्व प्रथम महाराष्ट्र भक्त नामदेव (श० सं० ११९२–१२७२) और रामानन्द में पाते हैं।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'निर्गुण पंथ' निकालने का श्रेय नाग पंथ के योगी और भक्त नामदेव को ही है। पर उसके निर्दिष्ट प्रवर्तक कबीरदास ही थे। इनके पंथ का विश्लेषण करने पर हमें मालूम पड़ेगा कि एक ओर तो रामानन्द के शिष्य होने से कबीर ने भारतीय अद्वैतवाद से कुछ बातें लीं और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के संस्कार भी लिए। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद लिया। अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न

एकेश्वरवादी। इनका लक्ष्य था तत्कालीन समाजगत विषमताओं औ भेदभावों का परिहार करना। वे शुद्ध सात्विक जीवन और ईश्वर प्रेम क प्रचार करना चाहते थे। साथ ही अपने क्रान्तिकारी व्यक्तित्व द्वार उन्होंने भारतीय मानवता के भीतर घर करती हुई पाखंड और रूि पूजा की परंपरा पर भी तीव्र प्रहार किये। सच्चे मानवीय मूल्य की स्थापना उनके काव्य में हुई और मानव के वाहरी और भीतर जीवन में संतुलन पैदा करने का लक्ष्य भी उन्होंने सामने रक्खा। व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय, धर्म और जीवन एक दूसरे के पूरक बने। इस दृष्टि से कबीर ने समझौते का नीति दर्शन नहीं वरन् विद्रोह का जीवन दर्शन अपनाया।

इस प्रकार पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक निर्गुण और सगुण के नाम से भक्ति-काव्य की दो धाराएं बहती रहीं। निर्गुणधारा के दो भाग हुए—एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी सूफियों की शुद्ध प्रेम मार्गी शाखा।

पहली शाखा भारतीय वेदांत और सूफी प्रेम तत्त्व को लेकर उपासना क्षेत्र में आई। इस शाखा के सन्तों द्वारा रचित ग्रन्थ साहित्यिक नहीं हैं, फुटकल पदों या दोहों के रूप में हैं जिनकी भाषा भी ऊबड़-खाबड़ है। कवीरादि अपवाद हैं। यह पंथ शिक्षित समाज को प्रभावित न कर सका। हाँ भारत की तत्कालीन अशिक्षित निम्न श्रेणी इन संतों के ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकती। क्योंकि नीच-ऊँच के भावों के भार से जर्जरीभूत समाज में दलित जनता को इन्हीं सन्तों की वाणी ने मुक्ति का संदेश सुना कर आचरण और भाव की दृष्टि से ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। शायद इसी बात को ध्यान में रख कर पश्चिमी विद्वानों ने इन संतों को धर्म सुधारक के नाम से गौरवान्वित किया है।

दूसरी शाखा की—प्रेममार्गी सूफी—रचनाएँ उत्तम कोटि के साहित्य

के अन्तर्गत आती हैं। इन कवियों ने लौकिक कथाओं द्वारा ईश्वर-प्रेम की अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया है। इन कथाओं में संसारी प्रेम की आड़ में भगवत्प्रेम के मर्म को समझाया गया है।

जैसा कि शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है इन सूफी कवियों का मार्मिक आधार हिन्दू है। "मनुष्य के साथ पशु-पक्षी और पेड़-पौधों को भी सहानुभूति सूत्र में बद्ध दिखा कर एक अखंड जीवन समष्टि का आभास देना हिंदू प्रेम कहानियों की विशेषता है।" यही बात हम इन सूफियों की रचना में पाते हैं।

इन सूफ़ियों ने अपनी रचनाएँ प्रायः प्रवन्ध काव्य के रूप में ही की हैं। इनमें जो चौपाई और दोहे का प्रयोग मिलता है वह वहुत पुराने समय से आख्यान-काव्यों में प्रयुक्त होता आता है। इन कथाओं में वुद्धि की उछल कूद को दूर रख कर हृदय को सीधा स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। इस कारण हिंदू-मुसलमान सव पर इनका एक सा प्रभाव पड़ता है। इन कवियों ने अपने ग्रंथों में अवधी भाषा का प्रयोग किया है।

भक्ति काल के आरंभ में सव से पहले कवीर की रचना ही कुछ अधिक मिलती है अतः निर्गुण संप्रदाय की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिष्ठाता कवीर ही हमारे अगले अध्याय के विषय होंगे। कवीर जैसे वहुमुखी प्रतिभा वाले कवि के लिए वैयक्तिक तथा सामाजिक संचरणों के वीच चलने वाले विरोध को मिटा कर मन के अन्तर्नियमों, विचारों तथा आस्थाओं के वीच एक सुखद समत्व का भाव स्थापित करनेका कार्य उस समय की विचलित सामाजिकता ने दिया। कहना न होगा कि कवीर ने उसे आजीवन पूर्ण किया। लोक मुक्ति की ओर उन्होंने वरावर आग्रह किया।

निर्गुणधारा

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा की उत्पत्ति और इसके तत्त्वों के विषय में हम पीछे लिख आए हैं। जैसा कि कहा जा चुका है अनेक देशी विदेशी तत्त्वों के सम्मिश्रण से इस धारा का प्रादुर्भाव हुआ है। इसके कवियों का सब से बड़ा उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों में सामान्य मनुष्यत्व की भावना जागृत कर एकता स्थापित करना था। इसके प्रवर्त्तक और अनुवर्त्तक ज्ञान अनुभव और सत्संग में ही सीमित होने के कारण इस शाखा का कोई स्थिर और निर्दिष्ट रूप प्रतिष्ठापित नहीं कर पाये । इस शाखा में ईश्वर सबंधी विरोधी धाराणाएँ भी मिलती हैं । पर कबीर निर्गुण सगुण दोनों की एक व्यापक सत्ता में विश्वास करते थे जो निखिल विश्व में व्याप्त है और जो केवल अनुभूति गम्य ही है। इस मत में गुरु को ईश्वर से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। कबीर के सामने गुरु और गोविंद दोनों खड़े हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि पहले किसके पाँव पड़ूँ। निर्गुण ब्रह्म को बिना प्रतीक के समझाना असंभव है। अतः स्त्री आत्मा और पुरुष परमात्मा का प्रतीक माना गया है। इन संतों का विश्वास था कि माया आत्मा को भुलावे में डाल कर कुमार्ग पर ले जाती है अतः माया की निन्दा की गई है। प्रेम मार्ग से परमात्मा के मिलन में जिन कठिनाइयों का वर्णन इन्होंने किया उसमें स्पष्ट सूफी प्रभाव लक्षित होता है। हिन्दू मुसलमानों के साथ साथ रहने से जो नये प्रगतिशील प्रभाव उत्पन्न हो गये थे उनकी छाप भी इन संतों के वचनों में मिलती है। साम्प्रदायिकता और सामाजिक रूढ़ियों पर निर्मम प्रहार किए गए हैं। कबीर ने

बनारस की विद्वन्मंडली से बिना किसी संकोच और भय के यह प्रश्न पूछा कि यदि तुम ब्राह्मण हो—ब्राह्मण से उत्पन्न हो तो दूसरे मार्ग से तुम्हारा जन्म क्यों न हुआ। इस मत में हठयोग पर भी काफी जोर दिया है और यत्र तत्र इड़ा, पिंगला आदि का नाम आता है। इसके अतिरिक्त इन संतों की वाणी रहस्यवादी भावना से रंजित हैं। जो बुद्धि के तर्क जाल में नहीं बँध पाता, जिसे चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता, जिसकी सत्ता सम्पूर्ण विश्व के कण कण मे व्याप्त है और जिसके कारण विश्व में जीवन स्पंदित हो रहा है, उसकी विशुद्ध चित्त से अनुभूति करके उसे सांसारिक रूपकों द्वारा व्यक्त करना अथवा उसके प्रति संकेत करने का प्रयत्न ही रहस्य भावना है। इस मत का अधिक प्रचार नहीं हो सका क्योंकि इसका प्रभाव समाज के दलित अशिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहा। समाज के ऊँचे स्तर का स्पर्शमात्र यह कर पाया। दूसरे इन संतों द्वारा निर्देशित मार्ग जनसाधारण के लिए सहज न था। रामभक्ति और कृष्ण भक्ति की सशक्त वाणी ने जनता का हृदय अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अब हम इस धारा के कुछ मुख्य कवियों का संक्षिप्त परिचय देते हैं।

कबीर:—इनका जन्म विक्रम संवत् १४५६ कहा जाता है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी से हुआ जो लोकनिंदा के भय से इनको लहरतारा के तालाब के पास अकेला छोड़ गई। नीरू नामक एक जुलाहे की नजर इस त्यक्त और निरीह बालक पर पड़ी और दया-वश वह उसे अपने घर ले आया। यही बालक नीरू के घर पल कर बड़ा हुआ और कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बचपन से ही साधु-सत्संग में पड़ने के कारण रामनाम के प्रति इनमें प्रेम उत्पन्न हो गया। उन दिनों रामानन्द रामभक्ति का प्रचार कर रहे थे और उनका प्रभाव देख कर उन्हीं से दीक्षित होने की इच्छा कबीर

के मन में पैदा हुई। एक दिन रात के समय ये उसी घाट की सीढ़ियों पर जाकर लेट रहे जहाँ से रामानन्द प्रतिदिन गंगास्नान करने गुजरते थे। अंधेरे में कवीर को उनके पैर की ठोकर लग गई और वे वोले—राम राम कह। इसी को गुरु मंत्र समझ कर कवीर ने अपने को रामानंद का शिष्य कहना आरम्भ कर दिया। स्वयं कवीर ने एक स्थान पर लिखा है—

"काशी में हम प्रकट भए, रामानन्द चेताये"

कवीर पंथी मुसलमान भी हैं जिनके अनुसार कवीर के गुरु शेख तकी थे। किंतु इस मत के समर्थन में दी जाने वाली युक्तियाँ विशेष सवल नहीं जान पड़तीं। हाँ यह ठीक वात है कि कवीर ने मुसलमान फक़ीरों का भी काफी सत्संग किया था।

उन दिनों रामानंद भक्ति मार्ग को अधिक प्रशस्त बनाने के लिए जाति-पाँति और खान पान के आचार का भी विरोध कर रहे थे। कवीर ने राम नाम तो निश्चित ही रामानन्द से लिया किंतु उसका अर्थ भिन्न कर दिया। अतः वे वैष्णव सम्प्रदाय में नहीं गिने जा सकते। उन्होंने दूर दूर तक देशाटन भी किया और सूफियों के सम्पर्क में आए। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर ही रही। कवीर के राम ब्रह्म के सूचक हो गए। इस प्रकार कवीर के पंथ में चार तत्त्वों का मिश्रण हुआ—भारतीय ब्रह्मवाद, सूफियों का भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों का साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णव मत का अहिंसावाद। कवीर यद्यपि निर्गुण धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं तथापि उपासना क्षेत्र में शुद्ध निर्गुण असंभव है। कहीं कहीं ब्रह्म में गुणों का आरोप हो ही गया है। कवीर के पंथ की अधिकांश वातें हिन्दू शास्त्रों की ही वस्तु हैं जो उन्होंने रामानंद के सत्संग अथवा उपदेश से ग्रहण कीं। कवीर कुछ पढ़े लिखे नहीं थे अतः उनका ज्ञान अनुभव और सत्संग तक ही सीमित था।

उपासना के वाहरी ढकोसलों को व्यर्थ का महत्व देने वाले हिन्दू

पंडितों और मुसलमान मुल्लाओं की उन्होंने कड़ी आलोचना की। मुसलमानों की हिंसा की आलोचना करते हुए वे कहते हैं—

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल ।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल ।।

उन्होंने सदैव राम-रहीम की एकता का उपदेश देकर दो विरोधी धर्मों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, अपढ़ होने पर भी उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी और इनकी बातें चुटीली और व्यंग्य से भरी रहती थीं। अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कहीं हैं। मगहर में अभी भी कबीर की समाधि बनी है जहाँ जाकर उन्होंने शरीर त्याग किया था। इनका मृत्यु सं० १५७५ है।

कबीर की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने संवत् १५२१ में किया था जो 'वीजक' कहलाती है। इसे रमैनी, सबद और साखी इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। साखी की भाषा राजस्थानी पंजाबी बोली मिली खड़ी भाषा है जो सधुक्कड़ी भाषा भी कहलाती है। रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जो ब्रजभाषा में हैं और उनमें कहीं कहीं अवधी के प्रयोग भी मिलते हैं। इनकी भाषा यद्यपि परिष्कृत और परिमार्जित तो नहीं है किंतु उक्ति-वैचित्र्य उसमें खूब पाया जाता है।

कबीर हिंदी के एक श्रेष्ठ रहस्यवादी और समाज सुधारक कवि माने जाते हैं। विश्वकवि टैगोर की अपनी अनेक रचनाओं के लिए इस मस्त फक्कड़ कवि के पदों से प्रेरणा प्राप्त हुई। कई विद्वान् 'गीतांजलि' को कबीर की रहस्य-अनुभूति का आधुनिक स्वरूप मात्र मानते हैं। कबीर के पद देखिए—

सन्तो राह हम दोऊ दीठा ।
हिन्दू तुरक हटा नहिं मानै, स्वाद सबन को मीठा ।

के मन में पैदा हुई। एक दिन रात के समय ये उसी घाट की सीढ़ियों पर जाकर लेट रहे जहाँ से रामानन्द प्रतिदिन गंगास्नान करने गुजरते थे। अंधेरे में कवीर को उनके पैर की ठोकर लग गई और वे वोले—राम राम कह। इसी को गुरु मंत्र समझ कर कवीर ने अपने को रामानंद का शिष्य कहना आरम्भ कर दिया। स्वयं कवीर ने एक स्थान पर लिखा है—

"काशी में हम प्रकट भए, रामानन्द चेताये"

कवीर पंथी मुसलमान भी हैं जिनके अनुसार कवीर के गुरु शेख तकी थे। किंतु इस मत के समर्थन में दी जाने वाली युक्तियाँ विशेष सबल नहीं जान पड़तीं। हाँ यह ठीक वात है कि कवीर ने मुसलमान फकीरों का भी काफी सत्संग किया था।

उन दिनों रामानंद भक्ति मार्ग को अधिक प्रशस्त बनाने के लिए जाति-पाँति और खान पान के आचार का भी विरोध कर रहे थे। कवीर ने राम नाम तो निश्चित ही रामानन्द से लिया किंतु उसका अर्थ भिन्न कर दिया। अतः वे वैष्णव सम्प्रदाय में नहीं गिने जा सकते। उन्होंने दूर दूर तक देशाटन भी किया और सूफियों के सम्पर्क में आए। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर ही रही। कवीर के राम ब्रह्म के सूचक हो गए। इस प्रकार कवीर के पंथ में चार तत्त्वों का मिश्रण हुआ—भारतीय ब्रह्मवाद, सूफियों का भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों का साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णव मत का अहिंसावाद। कवीर यद्यपि निर्गुण धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं तथापि उपासना क्षेत्र में शुद्ध निर्गुण असंभव है। कहीं कहीं ब्रह्म में गुणों का आरोप हो ही गया है। कवीर के पंथ की अधिकांश वातें हिन्दू शास्त्रों की ही वस्तु हैं जो उन्होंने रामानंद के सत्संग अथवा उपदेश से ग्रहण कीं। कवीर कुछ पढ़े लिखे नहीं थे अतः उनका ज्ञान अनुभव और सत्संग तक ही सीमित था।

उपासना के वाहरी ढकोसलों को व्यर्थ का महत्व देने वाले हिन्दू

पंडितों और मुसलमान मुल्लाओं की उन्होंने कड़ी आलोचना की। मुसल-मानों की हिंसा की आलोचना करते हुए वे कहते हैं—

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल॥

उन्होंने सदैव राम-रहीम की एकता का उपदेश देकर दो विरोधी धर्मों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, अपढ़ होने पर भी उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी और इनकी बातें चुटीली और व्यंग्य से भरी रहती थीं। अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कहीं हैं। मगहर में अभी भी कबीर की समाधि बनी है जहाँ जाकर उन्होंने शरीर त्याग किया था। इनका मृत्यु सं० १५७५ है।

कबीर की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने संवत् १५२१ में किया था जो 'बीजक' कहलाती है। इसे रमैनी, सबद और साखी इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। साखी की भाषा राजस्थानी पंजाबी बोली मिली खड़ी भाषा है जो सधुक्कड़ी भाषा भी कहलाती है। रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जो व्रजभाषा में हैं और उनमें कहीं कहीं अवधी के प्रयोग भी मिलते हैं। इनकी भाषा यद्यपि परिष्कृत और परिमार्जित तो नहीं है किंतु उक्ति-वैचित्र्य उसमें खूब पाया जाता है।

कबीर हिंदी के एक श्रेष्ठ रहस्यवादी और समाज सुधारक कवि माने जाते हैं। विश्वकवि टैगोर की अपनी अनेक रचनाओं के लिए इस मस्त फक्कड़ कवि के पदों से प्रेरणा प्राप्त हुई। कई विद्वान् 'गीतांजलि' को कबीर की रहस्य-अनुभूति का आधुनिक स्वरूप मात्र मानते हैं। कबीर के पद देखिए—

सन्तो राह हम दोऊ दीठा।
हिन्दू तुरक हटा नहिं मानै, स्वाद सबन को मीठा।

हिन्दू बरत एकादसि साधै, दूध सिंघाड़ा सेती।
अन को त्यागै मन नहिं हटकै, पारन करै सगोती।
रोजा तुरुक नमाज गुजारै बिसमिल बाँग पुकारै।
उनकी भिस्त कहाँ ते होइ है, सांझै मुरगी मारै।
हिन्दू दया मेहर को तुरकन, दोनों घट सों त्यागी।
वै हलाल वै झटका मारै आगि दुनो घर लागी।
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो सन्तों, राम न कहेउ खोदाई।

अथवा

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ पुलझ मर जाना है।
यह संसार झाड़ औ झाँखर आग लगै बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।

रैदास—ये रामानंद के बारह शिष्यों में से एक और जाति के चमार थे। संभवतः कबीर के बहुत पीछे ये रामानंद के शिष्य हुए थे। ये भी काशी के रहने वाले कहे जाते हैं। इनकी भक्ति भी निर्गुण साँचे की जान पड़ती है। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मिलता; फुटकल पद ही 'बानी' के नाम से संग्रहीत हैं। इनका एक पद्य उद्धृत किया जाता है:—

माधव क्या कहिए प्रभु ऐसा। जैसा मानिए होइ न तैसा।
नरपति एक सिंहासन सोइया सपने भया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुख पाइया, सो गति भई हमारी॥

धर्मदास—ये कबीर के प्रमुख शिष्यों में से थे। जाति के बनिए और बाँधवगढ़ के रहने वाले थे। मथुरा से लौटते समय एक बार इनकी भेंट

कबीर से हो गई। उनका उपदेश सुनकर धर्मदास का झुकाव निर्गुण मत की ओर हुआ। अंत में ये कबीरदास के प्रधान शिष्यों में हो गए और उनकी मृत्यु के बाद गद्दी धर्मदास को ही मिली। कहा जाता है कि कबीर के शिष्य होने के बाद इन्होंने अपना सब माल जायदाद पुण्य के कार्यों में लगा दी। इनके वचनों का भी संतों में बड़ा आदर है। उनमें सरल भाव हैं और कबीर के समान कठोरता और कर्कशता नहीं है। इन्होंने घरबार त्याग कर खूब देशाटन किया और सत्संग से अनुभव और उपदेश एकत्रित किये। इनके ज्ञान का आधार अपने जीवन के अनुभव ही थे।

इन्होंने पूरबी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक हैं क्योंकि इन्होंने खण्डन-मंडन को एक तरफ रख प्रेम-तत्त्व के उपदेश में ही अपनी वाणी का प्रसार किया है। एक उदाहरण दिया जाता है। 'अमर सुख निधान' ग्रन्थ में इनकी और कबीर साहब की बात-चीत विस्तार से लिखी है।

मोरे पिया मिले सत ज्ञानी।
ऐसन पिय हम कबहुँ न देखा, देखत सुरत लुभानी।
आपन रूप जब चीन्हा विरहिन, तब पिय के मन मानी।
कर्म जलाय के काजल कीन्हा, पढ़े प्रेम की बानी।
जब हंसा चले मानसरोवर, मुक्ति भरे जहँ पानी।
धर्मदास कबीर पिय पाये मिट गई आवाजानी।

गुरु नानक—इनका जन्म सं० १५२६ पूर्णिमा के दिन तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर में माना जाता है। इनके पिता तिलवंडी नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदे थे। ये जाति के खत्री थे। बाल्यावस्था से ही ये सरल प्रकृति के थे। इनका विवाह सं० १५४५ में हुआ। इनके दो पुत्र हुए—श्रीचंद और लक्ष्मीचंद। यही श्रीचंद आगे चल कर उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हुए।

धर्म और वैराग्य की प्रवृत्ति आरंभ से ही इनमें मौजूद थी। व्यावहारिक जीवन के जाल में यह वँधे न रह सके। कहा जाता है कि एक वार इनके पिता ने व्यवसाय के लिए धन दिया जो इन्होंने दरिद्रों में वाँट दिया। उस समय पंजाव में मुसलमान काफी संख्या में वस गए थे। उनके एकेश्वरवाद का प्रभाव धीरे धीरे जोर पकड़ता जा रहा था। मुसलमानी प्रभाव के कारण शास्त्रों का पठन-पाठन पूर्ववत् न था। इससे धर्म के मर्म को समझाने वालों की कमी थी। वलात् धर्म-परिवर्तन का भी लोगों के मन पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ रहा था। ऐसी दशा में कवीर के निर्गुण-पंथ ने ही वहाँ की जनता को मुक्ति का एकमात्र मार्ग दिखया।

ये कवीर की भाँति ही त्यागी और भक्त थे और पंजाव में निर्गुण उपासना का प्रचार करने में इन्हें वहुत सफलता मिली। देशाटन और सत्संग से इन्होंने खूव अनुभव प्राप्त किये। इन्होंने सिख-संप्रदाय की स्थापना की और उसके आदि गुरु हुए। कवीर के समान ये भी विशेष शिक्षित नहीं थे। भक्ति के आवेश में आकर जो गीत ये गाते थे उनका संग्रह ग्रंथ साहव में किया गया है। यह सिक्खों का धर्म-ग्रंथ है। ये भजन कुछ तो पंजावी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य-भाषा हिंदी में हैं।

इनकी रचनाओं में एकेश्वरवाद पर अधिक वल दिया गया है। अन्य सन्तों की तरह ये भी मूर्तिवाद का खंडन करते थे। इन्होंने आरती को केवल रूपक के ढंग पर ग्रहण किया है, व्यवहार में नहीं। यह विराट् ब्रह्म और उसके अनेक उपादान ब्रह्म की आरती को सजाते हैं। इस निराकार अखंड आरती का रूप नानक वताते हैं—

> **गगन तल थाल रविचन्द दीपक वने तारका मंडल जनुक मोती।**
> **धूप मलयानिलो पवन चवरो करै सकल वनराय फूलंत जोती।**
> **कैसी आरति होय भव खंडना।**

इनके भजनों में व्रजभाषा और कहीं कहीं खड़ी बोली का उपयोग हुआ है जिसमें पंजाबी के रूप भी कहीं कहीं आ गए हैं। सीधी भाषा में सीधे भावों को व्यक्त करना इनकी कविता की विशेषता है। कबीर के समान रूपकों और उलटबाँसियों का प्रयोग नानक ने नहीं किया। ये बड़ी ही सरल और अहंकार शून्य प्रकृति के थे। इनका एक पद नीचे दिया जाता है—

इस दम दा मैंनू कीवे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहिं दिखाया॥
सोच विचार करे मत मन में जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद पर से निस दिन राम चरन चित लाया॥

अपने सदुपदेश से हिन्दुओं में सिख समुदाय पैदा कर नानक जी ने हिन्दुओं का भारी उपकार किया।

दादूदयाल—सैद्धांतिक दृष्टि से इनका पंथ कबीर पंथ ही है परन्तु इन्होंने 'दादू पंथ' के नाम से एक अलग पंथ चलाया। इनका जन्म सं० १६०१ में गुजरात में अहमदाबाद शहर में माना जाता है। कुछ इन्हें ब्राह्मण मानते हैं, दूसरे इतर जातीय। दादू पंथी लोगों के अनुसार दादू बच्चे के रूप में साबरमती में बहते हुए लोदीराम नामक ब्राह्मण को मिले थे। इनके गुरु का पता नहीं चलता।

इन्होंने भी काफी देशाटन किया और जयपुर के पास नराना में अपने अंतिम दिन बिताये। इनकी मृत्यु सं० १६६० में हुई। नराना दादू पंथियों का प्रधान अड्डा है और वहाँ दादू दयाल के कपड़े और पुस्तकें अभी तक रखी हैं।

दादू ने अधिकतर दोहों में अपनी बानी कही है। कहीं कहीं गाने के पद भी हैं। भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिंदी है। अरबी फारसी के

शब्दों का काफी व्यवहार किया है और प्रेमतत्व की व्यंजना बड़ी सुन्दर हुई है। कबीर का उक्ति-चमत्कार तो इनमें नहीं है किंतु इनके प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गंभीर है। गुरु की महिमा, आत्म-ज्ञान और जाति-पाँति का निराकरण ही इनका संदेश है।

दादू की रचनाओं में प्रसाद गुण की अधिकता है और मधुरता भी कबीर से अधिक है। वे सुधारक नहीं केवल साधक थे। उनके पदों में अभिमान नहीं झलकता। उनके पदों में सगुण भक्त कवियों जैसी तन्मयता, सरलता और तीव्रासक्ति मिलती है। उनकी वाणी का स्वर शिष्ट, नम्र और विनयशील है। इनके पदों में प्रेम, विरह, मिलन का सुन्दर मार्मिक चित्र उपस्थित हुआ है। अपने अनेक पदों में वे निरंजन, निराकार ब्रह्म के लिए बड़ी उत्कट व्याकुलता और आवेग भरा पूजाभाव लेकर तड़प उठे हैं।

एक उदाहरण दिया जाता है—

घीव दूध में रमि रसा व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और ॥
वह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाई।
भीतर सेवा बंदगी, बाहिर काहे जाई ॥
दादू देख दयाल को सकल रहा भरपूर।
रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जाने दूर ॥
केते पारखि पचि मुए कीमति कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं गूंगे का गुड़ खाइ ॥
जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाइ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसे रहै समाइ ॥

सुंदरदास—ये जाति के बनिए थे और जयपुर राज्य के द्यौसा

नामक ग्राम में सं० १६५३ में इनका जन्म हुआ था। ६ वर्ष की छोटी सी अवस्था में ही ये दादूदयाल के शिष्य हो गए थे। दादू की मृत्यु तक ये नराना में हो रहे, फिर द्यौसा लौट आये। इसके वाद काशी जाकर इन्होंने संस्कृत, वेद, पुराणादि का अध्ययन किया। लौट कर राजपूताने के शेखावाटी नामक स्थान में रहे। इनकी मृत्यु सं० १७४६ में सांगानेर में हुई।

ये वाल ब्रह्मचारी और वड़े सुन्दर व्यक्तित्व के थे। संत कवियों में शायद ये ही इतने अधिक शिक्षित थे और काव्य-कला के मर्म को पहचानते थे। इनकी रचना भी सरस साहित्य में आती है। इनकी भाषा परिमार्जित व्रजभाषा है। ज्ञान, नीति, देशाचारादि पर इनके वड़े सुन्दर पद हैं। अन्य कवियों ने तो केवल गाने के पद और दोहे ही लिखे हैं, सुन्दरदास ने एक कुशल मँजे हुए कवि की भांति कवित्त और सवैयों में भी रचना की है। इनका सव से अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुन्दर विलास' है जिसमें सवैये अधिक हैं। इस रचना में अर्थालंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है संत होने के साथ साथ ये एक कुशल कवि भी थे। भिन्न भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी वड़ी ही विनोद भरी उक्तियाँ हैं। इनका काव्य सर्वत्र परिमार्जित, सरल एवं भावपूर्ण है। इनकी-सी भाव-विविधता अन्य सन्त कवियों में कम ही मिलती है। एक उदाहरण देखिए——

देखौ भाई आज भलौ दिन लागत।
वरिषा ऋतु को आगम आयौ वैठि मलारहिं रागत।
राम नाम के वादल उनये घोरि घोरि रस पागत।
तन मन माँहि भई शीतलता गये विकार जुदागित।
जा कारन हम फिरत वियोगी निशदिन उठि उठि जागत।
सूंदरदास दयाल प्रभु सोइ दियौ जोड़ साँगत।

शिक्षा से इनकी दृष्टि विस्तृत हो गई थी अतः लोकधर्म की ओर

इनका ध्यान होने का आभास इनकी रचना में मिलता है। इनकी कविता का एक और उदाहरण दिया जाता है—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो अति खेह लगाय के देह सँवारी ।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप सहे जो पंचागिनि बारी ॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर "सुन्दरदास" सबै दुख भारी ।
आस छाँड़ि के कासन ऊपर आसन मारयो, पै आस न मारी ॥

मलूकदास—इनका जन्म संवत् १६३१ कड़ा, जिला इलाहाबाद में हुआ और मृत्यु सं० १७३९ में हुई। ये जाति के खत्री थे। औरंगजेब के समय में अपने हृदय में ब्रह्म ढूंढ़ने वाले नामी सन्तों में इनका नाम आता है। आलसियों का यह मंत्र—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम ।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम ॥

इन्हीं का है। इनकी दो प्रसिद्ध पुस्तकें 'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध' हैं। इनकी भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का काफी प्रयोग हुआ है क्योंकि ये अपनी कविता हिंदू और मुसलमान दोनों को सुनाना चाहते थे। सुन्दरदास के समान बहुपठित न होने पर भी इनकी भाषा सुन्दर और सुव्यवस्थित है। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर बड़ी ही सरस वाणी में इन्होंने कविता की है। इनकी कई करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठा कर बचा लिया था। इनका एक पद्य देखिये:—

अब तो अजपा जपु मन मेरे ।
सुर नर असुर टहलुआ जाके मुनि गंध्रव हैं जाके चेरे ।
दस औतार देखि मत भूलौ, ऐसे रूप घनेरे ।
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तैं नैननि हेरे ।

इनकी कविता ज्ञान से भरी है। उपदेश चेतावनी आदि निर्गुण संतों जैसे हैं। असल में मलूक दास तक पहुँचते पहुँचते निर्गुणधारा सगुणधारा की ओर झुकने लगी थी। कबीर की उच्च भाव भूमि तक सभी का उठना कठिन था। इस समय राम भक्ति पूर्ण रूप में विकसित हो गई थी। इनकी रामावतार लीला (रामायण) यही सिद्ध करती है। साखी का उदाहरण लीजिये:—

मलुका सोई वीरहै जो जाने पर पीर
जो पर पीर न जानई सो काफिर वेपीर

सुथरादास—(सं० १६४०) ये मलूकदास के शिष्य थे।

वीरभानु—(सं० १६६०) ये ऊधोदास के शिष्य थे।

इनके अतिरिक्त जो संत कवि ज्ञानाश्रयी-शाखा में हुए उनके नाम ये हैं—हरिदास (सं० १७००), लालदास (सं० १७००), स्वामी प्राणनाथ (सं० १७०० वुंदेलखंड के सब से प्रसिद्ध कवि), रज्जव (सं० १७१०), दरिया साहव (सं० १७३१), अक्षर अनन्य (सं० १७१० ये छत्रसाल के समकालीन और उनके गुरु थे), गरीवदास (सं० १७७४ रामचरण (सं० १७७५), स्वामी नारायण सिंह (१७८१), सहजानंद, (१७३७) और गाजीदास (१७७७), ये जाति के चमार थे ।

निर्गुण कवियों की संत परंपरा में कुछ ही ऐसे संत हुए हैं जिनकी रचनाएँ विशुद्ध साहित्य की कोटि में आती हैं। कारण यह है कि संतों में से अधिकांश अपने मत विशेष के प्रतिपादन में रचना करते थे। उनका विषय मानव हृदय की सामान्य प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन नहीं रहा जो मानवमात्र की हृदयतंत्री में झंकार उत्पन्न कर सके। अतः कवीर ऐसे इने गिने प्रतिभाशाली संतों को छोड़ कर दूसरे संतों की रचनाओं का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर विशेष रूप से नहीं पड़ा।

जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है निर्गुण मत कोई एक विशुद्ध तत्त्व नहीं है, किंतु अनेक देशी विदेशी तत्त्वों का एक रसायन है। उसमें किसी दार्शनिक व्यवस्था विशेष को दिखाने का प्रयत्न करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करना होगा। केवल सामाजिक आदर्शों की व्यवस्था उसमें स्पष्ट देखी जा सकती है। समदृष्टि, भेदभाव और जातिगत विषमता का नाश और एकता का प्रचार इस साधना के आवश्यक अंग थे। पर उनके बोलों में मानव जीवन और अन्य भावनाओं की व्यंजना कम है। वर्ण विभाजन की कट्टरता के विरुद्ध आन्दोलन उस युग की एक राष्ट्रीय आवश्यकता थी। मुसलमानी सामाजिक संगठन और एकता के सामने छिन्न भिन्न हिन्दू संगठन का टिकना कठिन था। अधिकांश संत कवि नीच वंशों में उत्पन्न हुए थे इसलिए उनकी वाणियों में भुक्तभोगी की उग्रता और तीव्रता है। इस अकारण नीच बनाने वाली और मानने वाली सामाजिक दृष्टि के प्रति उनमें उच्च वंशवलों की सी दार्शनिक तटस्थता नहीं है। इसलिए सच्चे मानवीय धर्म का समाज दर्शन हमें इन कवियों की वाणियों में मिलता है, भले ही शास्त्रीय दर्शन उतने सुसंबद्ध रूप में न हो।

प्रेम मार्गी (सूफी) धारा

भक्तिकाल की भूमिका में हम लिख चुके हैं निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी शाखा उन प्रेममार्गी सूफी कवियों की है जिन्होंने अपनी प्रेमगाथाओं में लौकिक प्रेम प्रबंधों के द्वारा उस प्रेम तत्त्व के रहस्य को समझाने का प्रयत्न किया जो आत्मा और परमात्मा का मिलन कराता है। ये प्रेमी संत जाति पाँति और संप्रदाय की दूषित प्रवृत्ति से ग्रस्त समाज को अपने अलौकिक प्रेम की अनुभूति से रूपकों द्वारा व्यक्त करके शांति प्रेम और ऐक्य का संदेश दे रहे थे। ऐतिहासिक दृष्टि से सूफी मार्ग का प्रारंभ वीरगाथा काल से ही हो गया था। मुल्ला दाऊद लिखित नूरक और चंदा की प्रेम कहानी को प्रेम मार्गी धारा की पहली रचना समझना चाहिए।

इस धारा का आधारभूत तत्त्व अलौकिक प्रेम का संदेश रहा है। आत्मा रूपी पुरुष ईश्वर रूपी स्त्री से मिलने का प्रयत्न करता है और प्रिय के वियोग में कातर रहता है। भारतीय सिद्धांत ईश्वर को पुरुष और आत्मा को स्त्री मानता है। पहले ही लिखा जा चुका है कि इन प्रेम कथाओं का मर्म हिन्दू है। मुसलमान सूफी कवियों ने हिन्दू देवी देवताओं का नाम भी बड़े आदर से लिया है।

सूफी कवियों की रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अमर निधि हैं। ये संसार के उत्तम साहित्य के समक्ष रखी जा सकती हैं। कोई भी साहित्य इन्हें पाकर अपने को धन्य समझेगा। इन कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रबन्ध काव्य के रूप में ही की हैं। सभी ने अवधी भाषा और दोहे चौपाइयों का प्रयोग किया है। यही परंपरा गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में अपने पूर्ण विकसित रूप में दिखाई पड़ती है। गाँवों में इन प्रेम-काव्यों का अच्छा

प्रचार हुआ। ये प्रेम कथाएँ शृंगार रस प्रधान हैं। वियोग शृंगार के बड़े ही मार्मिक चित्र मिलते हैं। जो कथायें इन साधकों ने काव्यबद्ध कीं वे मौलि रूप से भारतीय थीं और जनसाधारण में लोक कथाओं के रूप में चल आ रही थीं। इन जनकथाओं के प्रभाव को समझकर ही इन कवियों उन्हें अपने भावों के प्रचार का साधन बनाया। इन सूफियों के काव्य क हम हिन्दी का पहला रोमांस काव्य कह सकते हैं। मौलाना सूलेमा नदवी के अनुसार मुसलमान सूफियों पर भारत में आने के वाद हि वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा। पर उन्होंने प्रेम के जिस ऐकान्तिक रूप क चित्रण किया है वह भारतीय साहित्य में नई चीज है। प्रेम की पी लोकाचार को दवा देती है। भारतीय काव्य साधना में प्रेम की ऐसी उत्क तन्मयता अन्यत्र कठिन है। अब हम इस धारा के मुख्य मुख्य कवियों क संक्षिप्त विवरण देते हैं।

कुतबन—इनका समय सं० १५५० था। ये शेख बुरहान के शि थे और जौनपुर के वादशाह हुसैनशाह के आश्रय में रहते थे। इन्हे 'मृगावती' नामक एक प्रेम-कथा दोहा और चौपाई में सं० १५५८ लिखी। इस कथा के द्वारा कवि ने प्रेम मार्ग के त्याग और कष्ट का वर्ण करके साधक को अलौकिक प्रेम की झाँकी दिखाई है।

संक्षेप में कथा इस प्रकार है। चंद्रागिरि के राजा का पुत्र कंचन नग की राजकुमारी मृगावती पर आसक्त हो गया। वड़े कष्ट से राजकुमार उसे प्राप्त किया किंतु मृगावती राजकुमार को धोखा देकर छोड़ गई राजकुमार योगी वन कर उसकी खोज में निकला। एक स्थान प रुक्मिनी नामक एक सुन्दरी को एक राक्षस से बचाने पर सुंदरी के पिता उसे विवाह में दे दिया। अव राजकुमार उस नगर में पहुँचा जहाँ मृगाव राज्य कर रही थी। अंत में राजकुमार को मृगावती भी प्राप्त हो जात है। वहुत दिनों वाद हाथी से गिर कर राजकुमार की मृत्यु हो जाती है

प्रिय के वियोग में दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं। इन पंक्तियों में सती होने का वर्णन देखिये:—

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई ।
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई ॥
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू ॥

मंझन—इनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनके द्वारा रचित 'मधुमालती' की एक अपूर्ण प्रति मिली है। मृगावती के समान यह भी एक प्रेम कथा है जिसमें कनेसर के राजा के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधु मालती की प्रेम-कथा बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से वर्णित है। ग्रंथ प्रवन्ध-काव्य है और दोहे चौपाइयों में लिखा गया है।* इसके लेखक की कल्पना मृगावती के लेखक की अपेक्षा अधिक विशद है और काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से उपर्युक्त काव्य से अधिक ऊँची कोटि का ठहरता है। इसमें तिलस्म और जादू के दृश्यों का भी वर्णन है जिनसे जन साधारण काफी प्रभावित हुआ होगा।

कथानक में उपनायक और उपनायिका की योजना की गई है जिससे कथा में विस्तार हो गया है। ताराचंद और प्रेमा नायक-नायिका एक

---

*वहुत से विद्यार्थियों में भ्रम है कि इन सूफी प्रबन्ध काव्यों में दोहे चौपाई लिखने की जो प्रथा है वह सूफी कवियों का अपना आविष्कार है। यह बात असत्य है ? सहजयान के सिद्धों में से सरहपाद और कृष्णाचार्य के ग्रन्थों में दो दो चार चार अर्धालयों (चौपाइयों) के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है। अपभ्रंश काव्यों में दस-बारह अर्धालियों के वाद घत्ता, उल्लाला आदि लिखकर प्रबन्ध लिखने का नियम पुराना है।

दूसरे से मिलने में सहायता देते हैं और अपनी सहानुभूति, संयम और निस्वार्थ भाव का परिचय देते हैं जिनका कवि ने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। सूफी कवियों की सब से बड़ी संपत्ति उनकी विरह-भावना है। जिसके हृदय में विरह है उसके लिए यह संसार एक साफ दर्पण के समान है। इस दर्पण में परमात्मा के अनेक रूप प्रतिफलित होते हैं। नीचे उद्धृत पंक्तियां देखिये:—

नैन बिरह-अंजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा॥
कोटि माहि बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह-दुख होई॥
रतन कि सागर सागरहि? गजमोती गज कोइ।
चँदन कि बन बन उपजै, बिरह की तन तन होइ॥

प्रस्तुत कथा के साथ साथ प्रस्तुत परोक्ष सत्ता की ओर भी संकेत किया गया है।

मलिक मोहम्मद जायसी—हिन्दी-साहित्य की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रेम मार्गी कवियों में मलिक मोहम्मद जायसी का स्थान सब से ऊँचा है। ये अपने समय के प्रसिद्ध सूफी फकीर थे। ये शेख मोहिदी के शिष्य थे और जायस में रहते थे। अमेठी के राजा के यहाँ इनकी बहुत इज्जत थी और वहाँ के किले में उनकी समाधि अभी तक बनी है। इनका सब से प्रसिद्ध ग्रंथ 'पद्मावत' है जिसके कुछ अंश सन् १५२० में लिखे गये थे।

ये काने और देखने में अत्यन्त कुरूप थे। प्रसिद्ध है कि जब शेरशाह इनकी कुरूपता पर हँसा तो इन्होंने यह कह कर उसे लज्जित किया कि "मोहिका हँसेसि कि कोहरहि?" इनकी अन्य दो प्रसिद्ध पुस्तकें 'अखरावट' और 'आखरी कलाम' हैं। 'अखरावट' में सिद्धांत-संबंधी चौपाइयाँ हैं। 'आखरी कलाम' में प्रलय का वर्णन है। किंतु हिन्दी-साहित्य में जायसी की अमर कीर्ति का कारण उनका 'पद्मावत' है। उसको पढ़ने से मालूम होता है

है कि जायसी का कोमल हृदय 'प्रेम की पीर' से भरा है। इस पीर की व्यापक सत्ता है और सम्पूर्ण विश्व उसी पीर से विंधा पड़ा है और इस पीर को धारण करता है केवल विरहिणी का हृदय—

मुहमद चिनगि परेम की सुनि थल गगन डराय।
धनि सो विरहिन धनि हिया जहँ यह आगि समाय॥

जायसी की साधना लोक और परलोक का समन्वय चाहती है। उनके विरह वर्णन में सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह सामान्य मानव भूमि से उठता है और विश्व में अपना रूप दिखाता जाता है।

इस काव्य के क़थानक का आधार है तो ऐतिहासिक किंतु इसमें कवि की कल्पना भी मुक्त पंख से उड़ी है। जनसाधारण में प्रचलित कथा ही इसका आधार है। काव्य का प्रथम अंश कल्पित और अंतिम अँश ऐति-हासिक है।

हिन्दू और मुसलमानों को जितना अधिक निकट ये प्रेम गाथाकार सहृदय और प्रेमी सूफी कवि ला सके उतना कबीर नहीं। कारण यह है कि कबीर की स्पष्ट और कटु आलोचना ने लोगों को अपनी भूल स्वीकार करने की अपेक्षा चिढ़ाया अधिक। इन कवियों ने सामान्य मनुष्यत्व को जागृत करने के लिए दूसरा मार्ग अपनाया। इन्होंने अपनी कथाओं में जीवन की उन सामान्य परिस्थितियों का चित्र खींचा जो मनुष्यमात्र के हृदय को स्पर्श करती हैं और मनुष्य मनुष्य में हृदय साम्य स्थापित करती हैं। हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं प्रेममूर्त्ति संतों का नाम लेना पड़ता है। "कबीर ने केवल परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की

एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। वह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

'पद्मावत' में प्रेमगाथा की परंपरा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त होती है। कथा में इतिहास और कल्पना का योग है। प्रत्येक हिंदू चित्तौर की महारानी पद्मिनी की मर्म स्पर्शिणी कथा जानता है।

अन्य काव्यों से इस काव्य में एक विशेषता है। इसके वर्णनों में साधना के मार्ग की कठिनाइयों की ओर संकेत किया गया है। पद्मावत की रचना फारसी की मसनवी शैली पर हुई है। अलंकारों का सुन्दर प्रयोग है और ग्रन्थ की रचना दोहे चौपाइयों में हुई है। इसकी भाषा अवधी है। पूरी कथा एक रूपक मात्र है जिसमें कवि ने प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप का वर्णन किया है। ग्रंथ की समाप्ति पर कवि लिखता है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ?

जायसी को जहाँ कहीं जिस किसी का वियोग मिलता है वे उस पारस रूप की छटा का वर्णन करते हैं जिसकी झलक से अलाउद्दीन अंधा हो गया—जिसे पाने के वह भाँति भाँति के उपाय रचता रहा। इस प्रकार वे अपने कथानक में यत्र तत्र अपनी रहस्य भावना का बोध भी करा देते हैं। जायसी विरह-विदग्ध हैं। उनको चारों ओर वही वह दिखाई देता है जिसको पाने के हेतु उनका जी तड़पता है और जिसकी प्राप्ति के निमित्त ही यह शरीर रूपी परिधान मिला है। जायसी का प्रियतम कोई पात्र नहीं प्रेमी का प्रिय है फिर चाहे वह जिस किसी का जो कोई हो। जायसी उसमें अपना प्रियतम ढूंढ निकालते हैं। रूप वर्णना और चित्र बनाने की शक्ति भी जायसी में अपूर्व है। अतिशयोक्तियों में विचित्र रस है।

पद्मिनी का सौन्दर्य वर्णन पाठक को लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंप छोरि केस मुकलाई॥
ससिमुख, अंग मलयगिरि वासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥

ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा॥
भलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा मँह चंद देखावा॥

जायसी के महत्त्व और काव्य कला की ओर आचार्य शुक्ल जी ने सब से पहले ध्यान दिलाया। मिश्रबन्धुओं ने तो उन्हें नवरत्नों में भी नहीं गिना था। रामायण के बाद पद्मावत हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें स्तुति, नख-शिख, ष ्ऋतु, बारहमासा, ज्योतिष, राग-रागिनी, प्रेम, युद्ध, दु:ख, सुख, राजनीति, प्रेमालाप, साधना के मार्ग और सिद्धि के स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया गया है। अलंकारों में उत्प्रेक्षा ही प्रधान है। रसों का निर्वाह सुन्दर है।

उसमान—ये जहाँगीर के समकालीन और गाजीपुर निवासी शेख हुसैन के लड़के थे। हाजीबाबा इनके गुरु थे। सन १६२३ में इन्होंने 'चित्रावली' नाम की एक पुस्तक लिखी। इस प्रेम काव्य के लिखने में जायसी इनके आदर्श रहे। कहीं कहीं तो शब्द और वाक्य-विन्यास तक वही है। किन्तु कथा कवि की बिलकुल अपनी चीज़ है। इसमें नैपाल के राजकुमार सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रेमकथा का वर्णन है। जायसी ने सात चौपाई और एक दोहे का क्रम रखा था। चित्रावली में उसी का अनुकरण किया गया है।

विरह वर्णन के अन्तर्गत षट्ऋतु का सरस और हृदयग्राही वर्णन देखिये—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ भौंर कुसुम-रंग भला॥
आहि कहाँ सो, भँवर हमारा। जेहि विनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
रतिपति दुरद ऋतुपती बली। कानन-देह आइ दलमली॥

सरोवर क्रीड़ा के वर्णन में एक नये ढंग से ईश्वर की प्राप्ति की साध
की ओर संकेत किया है।

नूर मुहम्मद—ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय में थे
जौनपुर जिले में आजमगढ़ की सरहद पर सबरहद नामक स्थान के रह
वाले थे। संवत् १८०१ में इन्होंने इन्द्रावती नामक एक प्रेम आख्या
काव्य लिखा। इसमें कालिंजर के राजकुमार राजकुँअर और आगमपु
की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कहानी है। कवि ने जायसी के पह
के कवियों के अनुसार पाँच पाँच चौपाइयों के उपरान्त दोहे का 'क्र
रक्खा है। इस ग्रन्थ को सूफी पद्धति का अंतिम ग्रन्थ समझना चाहिये
अनुराग बाँसुरी नामक इनका एक और ग्रन्थ फारसी अक्षरों में मिल
है जो सूफी रचनाओं से अधिक संस्कृत गर्भित है। इसका रचनाकाल
संवत् १८२१ है। इसका विषय तत्वज्ञान संबंधी है। शरीर, जीवात्मा
मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक खड़ा कर के कहानी
बाँधी गई है।

शेख नबी—ये सं० १६७६ में जहाँगीर के समकालीन और जौनपुर
जिले के मऊ नामक स्थान में रहते थे। इन्होंने 'ज्ञान-दीप' नामक
आख्यान काव्य लिखा।

शेख नबी के बाद ही आख्यान काव्य के युग की समाप्ति समझना
चाहिए। बीच बीच में इस परंपरा के काव्य लिखे जाते रहे किन्तु इन
ग्रंथों की बहुलता का युग यहीं समाप्त हो गया। समय समय पर

कालांतर में प्रेम गाथा की परंपरा में लिखने वालों के नाम नीचे दिये जाते हैं—

कासिमशाह (सं० १७८८, हंस जवाहिर के रचयिता), फाजिलशाह (प्रेम रतन के लेखक), हरराज (ढोला मारू चौपदी के लेखक), प्रेमचन्द (चंद्रकला के लेखक), और मृगेन्द्र (प्रेम पयोनिधि लिखा)।

इन प्रेमगाथाकारों में अधिकांश मुसलमान ही हुए जो हिन्दू-मुसलिम ऐक्य के लिए साहित्य की इस धारा के सजीव प्रतीक हैं। मुसलमान होने के कारण इन कवियों ने पौराणिक प्रसंगों के वर्णन में कहीं कहीं भूलें भी की हैं। जैसे एक कवि ने इन्द्र को कैलाशवासी लिख दिया है। किन्तु यह स्वाभाविक था। इस मत में लौकिक उपादानों द्वारा ईश्वर प्रेम की प्याली पी गई है। **'शेख तुझे जन्नत मुझे दीदार'।**

इस कविता का अधिक प्रचार नहीं हो पाया। इसके कई कारण थे। जिस भाषा में ये प्रेमगाथायें लिखी गई हैं, वह उस समय अपनी परिपक्व अवस्था में नहीं पहुँची थी। सन्त मत की भाँति इस मत का भी कोई निर्दिष्ट दर्शन विशेष नहीं है। एक कारण यह भी है कि ये रचनाएँ फारसी लिपि में मिलती हैं इस से तत्कालीन जन साधारण स्वयं नहीं पढ़ सका होगा। पर इनके कम प्रचार होने का सब से प्रधान कारण था रामभक्ति और कृष्णभक्ति की प्रबल बाढ़ जिसने समस्त जनमन को देखते देखते आप्लावित कर दिया। वैष्णव भक्तों ने जनता के हृदय पर इतना अधिकार कर लिया था कि उस पर दूसरा रंग चढ़ना कठिन था। संस्कृत के प्रेमकाव्यों में शुद्ध प्रेम का ही वर्णन है। इसलिये वे शुद्ध साहित्य ग्रन्थ हैं। पर प्रेम मार्गी सन्तों के काव्य में रहस्यवाद और साम्प्रदायिक पृथकता साफ दिखाई देती है। फारसी की मसनवी शैली पर ये काव्य लिखे गये हैं। इन काव्यों का ढाँचा भी प्रबन्ध काव्य की पद्धति पर नहीं है। इसी से ये कथायें सर्ग बद्ध नहीं हैं।

इनका वर्णन मसनवी की पद्धति पर बीच बीच में प्रसंग के शीर्षक पर रख कर किया गया है। मसनवी की शैली पर ईश्वर वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, शाही वक्त की प्रशंसा, गुरु परम्परा, अपने मित्रों आदि का वर्णन आरम्भ में किया गया है। बाद में कथारंभ है। पर लौकिक कथा के साथ आत्मा और ब्रह्म के अलौकिक पक्ष की योजना में जो रस है और प्रेम की जो लोकव्यापी व्यंजना है वह साहित्य में बेजोड़ और अनुपम है।

सगुणधारा

राम-भक्ति शाखा

वैदिक काल से ही विष्णु का बड़ा महत्व चला आ रहा है। कालांतर में ब्रह्मा और महेश भी विष्णु के सृजन और संहार रूप माने गये। इस प्रकार विष्णु की उपासना करने वाले वैष्णव मतावलंबी कहलाये। वैष्णव मत का मूल सिद्धान्त भक्ति है। यह भक्ति मार्ग नारायण को प्रधान मान कर चलता है। वैष्णव मत में विष्णु और उनके अवतार महत्वपूर्ण हैं। विष्णु का निर्देश ऋग्वेद में ही मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों तक आते आते विष्णु का महत्व सूर्य, अग्नि और इन्द्र सभी से बढ़ गया है। धीरे धीरे विष्णु पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण और अन्त में भागवत पुराण द्वारा विष्णु सर्वशक्तिमान मान लिये गये। उनके अवतारों की संख्या निर्धारित कर दी गई जो धीरे धीरे बढ़ती रही।

शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद की प्रतिष्ठापना की वह भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए उपयुक्त न था। उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता पर उतना जोर नहीं दिया गया था जितना कि औसत आदमी को इस ओर आकर्षित करने के लिए आवश्यक था। यह कार्य श्री रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने किया। उनके विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार समस्त विश्व (चित-प्राचित) ब्रह्म का ही अंश है और उसी में समा जाता है। इनकी शिष्य परंपरा में, रामानन्द हुए। रामानन्द के गुरु का नाम राघवानन्द था। गुरु से मत-भेद हो जाने के कारण ये मठ छोड़ कर उत्तर भारत में आ गये। इससे सहज ही इनकी स्वतन्त्र चिंता-शक्ति का पता लगता है। एक दृष्टि से मध्य युगीन समस्त स्वा-

धीन चिंता के गुरु रामानन्द ही थे। कहा जाता है कि रामानन्द ने सारे भारतवर्ष में घूम घूम कर अपने श्री संप्रदाय का प्रचार किया। इन्होंने श्री संप्रदाय के रूप में वैष्णव मत का प्रचार किया और जनसाधारण के लिए भक्ति मार्ग सुगम वनाया।

सोलहवीं शताब्दी में रामानन्द ने राम रूप में और वल्लभाचार्य ने कृष्णरूप में विष्णु की उपासना का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। रामानन्द और वल्लभाचार्य के अतिरिक्त अन्य भक्तों न भी सगुणोपासना का मार्ग प्रशस्त किया।

रामानन्द—इनके संबंध में कहीं कुछ लिखा नहीं मिलता। पंद्रहवीं शताब्दी में इन्होंने अपना प्रचार कार्य आरम्भ कर ही दिया था। थे तो ये रामानुजाचार्य के मतावलंबी किन्तु इन्होंने राम के रूप में ही विष्णु की उपासना पर जोर दिया क्योंकि लोक की दृष्टि से वे इस रूप को अधिक कल्याणकारी समझते थे। इन्होंने मनुष्य मात्र को सगुण भक्ति का अधिकारी घोषित कर उपासना के द्वार सब के लिए खोल दिये।

इसका यह अर्थ नहीं है कि रामानन्द वर्णाश्रम के विरोधी थे। सामाजिक दृष्टि से वे इन भेदों को मानते थे, केवल उपासना क्षेत्र में वे इनकी आवश्यकता नहीं समझते थे। भगवद्भक्ति में भेदभाव को कैसा आश्रय ? कर्म-क्षेत्र में शास्त्र मर्यादा मान्य थी, पर उपासना क्षेत्र में लौकिक वंधन अमान्य थे। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ये दार्शनिक सम्प्रदाय उस रूप में सम्प्रदाय नहीं थे जिस रूप में आगे चल कर सन्तों और भक्तों के सम्प्रदाय वने। शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई और चार दार्शनिक संप्रदायों का जन्म हुआ (श्री, ब्राह्म, रुद्र और सनकादि) इनमें परस्पर एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता थी। सव जीवात्मा परमात्मा की भिन्न सत्ता मानते थे। राम, कृष्ण में से किसी

को इष्टदेव मान कर चलते थे। भेद केवल दार्शनिक अथवा आचार संबंधी था।

रामानन्द जी के जीवन के संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं मालूम। इस कारण इनके संबंध में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं जिनमें पड़ने की हमें इस स्थान पर आवश्यकता नहीं है। रामानन्द जी के ये शिष्य प्रसिद्ध हैं—कबीर, रैदास, सेन और पीपा।

अब हम रामभक्ति की शाखा में होने वाले मुख्य भक्त कवियों का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास—यों तो रामानन्द के विभिन्न शिष्यों द्वारा राम भक्ति का प्रचार भारत के एक बड़े भाग में हो रहा था, किन्तु इस धारा के सब से अधिक सशक्त गायक १७वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए। ये थे कवि-कुल-कमल दिवाकर गोस्वामी तुलसीदास। हिन्दी-साहित्य को रामभक्ति का प्रौढ़ साहित्य देने का श्रेय इन्हीं को है। इनकी रामभक्ति के मधुर वीणा-वादन ने जन हृदय में भक्ति की एक अपूर्व लहर उत्पन्न कर दी। इनकी सशक्त रचनाओं से ही हिन्दी-साहित्य की प्रौढ़ता का युग शुरू होता है।

गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ में बांदा जिले के राजापुर ग्राम में हुआ था। वेनीमाधवदास के 'गोसाईं चरित' और रघुवरदास के 'तुलसी चरित' में इसका जिक्र आता है। शिवसिंह सरोज में इनका जन्म सं० १५८३ लिखा है। 'तुलसी परासर गोत दूवे पतिऔजा' के आधार पर ये सरयूपारी ब्राह्मण और परासर गोत के पतिऔजा के दूवे थे। पं० रामनरेश त्रिपाठी के मतानुसार तुलसीदास का जन्म सोंरों में हुआ था। किन्तु अधिकांश विद्वान राजापुर के पक्ष में ही हैं।

कहा जाता है कि गोस्वामी जी के पिता का नाम आत्माराम दूवे और माता का नाम हुलसी था। माता के नाम के संबंध में रहीम की

यह पंक्ति प्रसिद्ध है—'गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय'। जनश्रुति है कि अभूक्तमूल में पैदा होने के कारण वालक तुलसी अपने माता पिता द्वारा त्याग दिये गये थे। कवितावली में एक जगह गोस्वामी जी लिखते हैं—"मातु पिता जग जाइ तज्यो विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।" बाबा नरहरिदास ने ही इनका पालन-पोषण कर इन्हें संस्कृत में शास्त्र और पुराण की शिक्षा दी। गुरु के सत्संग से ही इन्हें रामकथा में रुचि उत्पन्न हुई। पन्द्रह वर्ष अध्ययन करने के वाद जब ये राजापुर लौटे तो इनके परिवार में सब मर चुके थे।

किंवदन्ती के अनुसार तुलसीदास की पत्नी का नाम रत्नावली था। ये अपनी पत्नी में अत्यन्त आसक्त थे। एक बार जब वह पिता के घर गई तो तुलसी उसके वियोग में व्याकुल हो उठे। तुरन्त ही उसके पीछे चले और ससुराल पहुँचे। पति के इस आचरण से रत्नावली बहुत लज्जित हुई। क्रोध में चिढ़ कर उसने अपने पति से कहा—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम मँह होति न तौ भवभीति॥

कहते हैं कि पत्नी की फटकार सुन कर तुलसी का मोह जाता रहा और इनकी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो उठीं। वह उसी समय वहाँ से लौट पड़े। इस घटना का उल्लेख नाभादास के 'भक्त माल' में और रघुवरदास के 'तुलसी चरित' में मिलता है। कुछ दिन काशी और अयोध्या में रहने के वाद वह तीर्थयात्रा करने निकल गये। भारत के मुख्य-मुख्य सभी तीर्थों में ये घूमे। इसके वाद सं० १६३१ में अयोध्या में रामचरितमानस का आरंभ किया और उसे २ वर्ष ७ माह में समाप्त

किया। इसके बाद ये प्रायः काशी में ही रहा करते थे। ये अपने समय के सब से बड़े भक्त और महात्मा थे। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती, अकबर के प्रसिद्ध दरबारी रहीम, मानसिंह और नाभा जी इनके मित्र और स्नेही थे। सारे देश में इनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी और शास्त्रज्ञ विद्वान आ आ कर इनसे मिला करते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार विसेंट स्मिथ ने इन्हें अपने समय का भारत का सर्वश्रेष्ठ पुरुष माना है। यहाँ तक कि सम्राट अकबर से बड़ा इन्हें कहा है। कहा जाता है कि सूरदास, केशवदास आदि की भी इनसे भेंट हुई थी।

गोस्वामी जी की मृत्यु के संबंध में यह दोहा प्रचलित है :

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

विशुद्ध खड़ी बोली के उत्थान-काल के पूर्व हिन्दी-साहित्य की सर्वमान्य काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही थी और इसमें कविता करने वाले कवि उत्तर भारत के सभी भागों में पाये जाते थे। पर अवधी में रचना करने वाले कवि प्रायः पूरब के रहने वाले ही थे। हम एक भी ऐसे पश्चिमी कवि को नहीं जानते जिसने अवधी पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया हो।

हिन्दी-काव्य क्षेत्र में तुलसी का आविर्भाव एक अभूतपूर्व घटना थी। इन्हीं की रचनाओं में हिन्दी-काव्य की गुप्त शक्तियाँ विकास की चरम अवस्था पर पहुँचीं। वीरगाथा काल के कवि परंपरा के दास थे। भाषा को वे परिमार्जित न कर सके। कबीरदास ने चलती भाषा अपनाई पर वह बेठिकाने थी। सगुणोपासक कवियों ने परंपरागत और प्रचलित भाषा के योग से काव्य-भाषा को नया जीवन प्रदान किया। जो काम सूर ने ब्रजभाषा के लिए किया वही तुलसी ने अवधी के लिए।

पर यह स्मरण रखना चाहिए कि तुलसी का ब्रजभाषा पर भी अधिकार था।

गोस्वामी जी के समय हिन्दी-काव्य में मुख्य पाँच शैलियाँ थीं—(१) वीर गाथा काल की छप्पय पद्धति (२) विद्यापति की गीत पद्धति (३) भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति (४) कबीर दोहा की पद्धति और (५) ईश्वरदास की दोहा-चौपाई वाली पद्धति। तुलसीदास जी की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी सर्वांगीण प्रतिभा के बल से काव्य सौन्दर्य की चरम सीमा अपनी वाणी में दिखाई। उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर एक सा अधिकार था। भाषा की दृष्टि से इनकी तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नहीं हो सकती। उनकी भाषा जितनी लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। संस्कृत का मिश्रण बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। इनकी भाषा में समन्वय की एक चेष्टा है। काव्य शास्त्र की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अत्यन्त सफल हैं। छन्द की विभिन्नता, प्रसंगों के अनुकूल उनका चुनाव, रसोद्रेक में सफलता और प्रत्येक रस का सुन्दर निर्वाह इन्हें काव्य शास्त्र का पंडित सिद्ध करता है। रसानुकूल और पात्रानुकूल भाषा लिखने का वे सदा ध्यान रखते हैं। स्त्री पात्रों के संवादों में उन्होंने ठेठ भाषा का सुन्दर प्रयोग किया है। उनकी भाषा पात्रों की सामाजिक स्थिति को ही नहीं उनके मनस्तत्व को भी आधार बना कर चलती है। मनोविकारों के चित्रण में वे अद्वितीय हैं।

तुलसीदास की दृष्टि बहुत विस्तृत थी। इसी कारण ये उत्तर भारत की जनता के मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं। ये भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि कवि थे। डॉक्टर ग्रियर्सन ने कहा है कि बुद्धदेव के बाद भारत में सब से बड़े लोकनायक तुलसीदास थे। साहित्य के विभिन्न कालों के कवियों ने जीवन के किसी एक पक्ष का वर्णन किया है। तुलसी की वाणी के अन्तर्गत मनुष्य के सारे भाव और व्यवहार आते हैं।

निर्गुण धारा के संतों के उपदेशों से जनहृदय में विकार उत्पन्न होने का भय था। उनकी शिक्षा में लोकधर्म को कोई स्थान नहीं मिला। तुलसीदास ने इस कमी को अच्छी तरह समझ लिया। उनका 'गुह्य' भी गोस्वामी जी को कुछ अच्छा न लगा। दूसरे इस निर्गुण मत का मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से कोई संबंध नहीं था अतः वह हृदयपक्ष से रहित थी। गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति की पद्धति को सर्वांगपूर्ण बनाया। जीवन के सब पार्श्वों का सामंजस्य उसमें मिलेगा। वह कर्म, धर्म और ज्ञान का सुन्दर रसायन है। धर्म और ज्ञान की रसानुभूति ही तुलसी की भक्ति है।

तुलसीदास जी ने शैवों और वैष्णवों के बढ़ते हुए झगड़े को रोकने का प्रयत्न किया। भक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर भी लोक-संग्रह की भावना उनकी भक्ति का एक अंग रही है। कृष्णभक्ति धारा में इस बात का अभाव है। यही कारण है कि तुलसी की वाणी सब से अधिक मंगलकारिणी मानी गई है।

रामचरितमानस में कवि की प्रतिभा का पता लगता है। उसमें हमें कथा-काव्य के सब अंगों का उचित सामंजस्य मिलेगा। कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान, प्रसंगानुकूल भाषा और शिष्ट मर्यादा के भीतर शृंगार रस का वर्णन इस पुस्तक की प्रमुख विशेषताओं में से हैं। इस ग्रंथ में कवि उपदेशक के रूप में भी आता है। गोस्वामी जी सच्चे साहित्य मर्मज्ञ थे और रचना नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन उन्होंने कभी नहीं किया। उच्चतम कोटि के कलाकार की विदग्धता और संतुलन वृत्ति उनमें पाई जाती है। लोक-चित्त का विस्तृत और यथार्थ ज्ञान उन्हें था। प्रबंधत्व में तुलसी उस स्थान पर पहुँच गये हैं जहाँ से आगे जाना संभव नहीं। उनका स्वान्तः सुखाय का सिद्धान्त बहुजन हिताय का लक्ष्य पूरा करता रहा। दरबारी कविता की परम्परा में उन्होंने क्रान्ति की।

अपने समय का सब से क्रान्तिकारी और प्रगतिशील व्यक्तित्व उनका था। मोक्ष के स्थान पर युग युग की भक्ति और लोक कल्याण उन्हें प्रिय था।

रामायण के अतिरिक्त उनके ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—कवितावली, विनय पत्रिका, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्नावली, राम लला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, वरवै रामायण, वैराग्य संदीपिनी और हनुमान वाहुक।

'तत्कालीन समाज की दशा पर दृष्टिपात करने से हमें मालूम होगा कि परस्पर विरोधी तत्व समाज को जर्जरीभूत बना रहे थे। सारा देश विश्रृंखल, परस्पर विच्छिन्न, आदर्शहीन और विना लक्ष्य का हो रहा था। इस समय एक ऐसे समन्वय करने वाले की आवश्यकता थी जो इन विच्छिन्न, विभ्रष्ट टुकड़ों में योग-सूत्र और सामंजस्य स्थापित करता। तुलसीदास ने यही किया। बुद्ध के बाद तुलसी भारत के सब से बड़े समन्वयकारी थे।

तुलसीदास कवि, भक्त, पंडित-सुधारक और लोक नायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। हिन्दी भाषा और साहित्य के वे जगमगाते रत्न हैं। अनेक विदेशी भाषाओं में रामायण का अनुवाद हो चुका है और आज समस्त संसार तुलसी की प्रतिभा का कायल है। गोस्वामी जी को नश्वर शरीर छोड़े तीन शताब्दियाँ हो गईं किन्तु आज भी वे प्रत्येक हिन्दू और हिन्दी साहित्य प्रेमी की साँसों में जीवित हैं। इनकी कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

अवधेश के द्वारे सकारे गई सुत गोद में भूपति लै निकसे।
अवलोकत सोच विमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिक से।
तुलसी मनरंजन अंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै, नवनील सरोरुह से विकसे।

बन्दों गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा॥
अमिय मूरि मैं चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥
सुकृत सम्भु तन विमल विभूती। मंजुल, मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुनगन जस करनी॥

श्री गुरु पद रज मंजुल अंजन
नैन अमिय दृग पोष विभंजन
सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर
सिय मुख शरद कमल जिमि किमि कहि जाय
निसि मलीन वह निस दिन यह विगसाय
चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हलाइ

स्वामी अग्रदास—सं० १६३२ के लगभग वर्त्तमान थे। इनकी कविता पढ़ कर नंददास जी की कविता का स्मरण हो आता है। ये प्रसिद्ध कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे किन्तु इनका झुकाव रामभक्ति की ओर अधिक था। ये गलता (जयपुर) के रहने वाले थे। इनकी बनाई चार पुस्तकों का पता मिलता है—हितोपदेश उपखाणां बावनी, ध्यान मंजरी, रामध्यान मंजरी और कुंडलिया। उदाहरण में एक पद्य दिया जाता है—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनको लखत प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए।
मुख-पंकज के निकट मनो अलि-छौना आए॥

नाभादास जी—ये अग्रदास जी के शिष्य और बड़े भक्त तथा साधु सेवी थे। ये तुलसीदास जी के समय में थे और सं० १६५७ में वर्तमान थे। इनकी प्रमुख रचना 'भक्तमाल'* है जो छप्पय में लिखी है और जिसमें २०० संतों का जीवन-चरित्र दिया गया है। भक्तों के समस्त जीवन का वर्णन तो इनमें नहीं है, हाँ भक्ति से संबंधित घटनाएँ दी गई हैं। भक्तमाल लिखने में इनका उद्देश्य संभवतः जनता में भक्तों के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना था। यह ग्रन्थ सं० १६४२ के बाद बना और प्रियादास जी ने इसकी टीका सं० १७६९ में लिखी।

नाभादास की जाति का ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ उन्हें क्षत्रिय कहते हैं कुछ डोम। इनके और गोस्वामी जी के संबंध में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार नाभादास तुलसीदास से भेंट करने काशी गये। गोस्वामी जी ध्यान मग्न थे अतः भेंट न हो सकी। नाभादास रुष्ट होकर लौट गये। जब गोस्वामी जी को बाद में पता चला तो बड़ा खेद हुआ और वे तुरन्त भक्तशिरोमणि से मिलने वृन्दावन चल पड़े। उस दिन नाभादास के यहाँ भंडारा था। वैष्णव साधुओं की भीड़ लगी थी। तुलसीदास जान बूझ कर सब के अंत में एक गन्दे स्थान पर बैठ गये। नाभादास ने भी जान बूझ कर उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। खीर परोसते समय जब कोई बर्तन न मिला तो गोस्वामी जी

---

*भक्तमाल और उस पर प्रियादास की टीका भक्तों का हृदय-हार रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में तुलसीदास की रामायण के बाद मध्य युग की यह सर्वाधिक लोकप्रिय भक्ति पुस्तक है। इसका अनुवाद बँगला और मराठी में भी हुआ। नाभादास जी के भक्तमाल में नानक, दादू आदि भक्तों के नाम नहीं आ पाये। बाद में इस ग्रन्थ के अनुकरण पर बहुत से भक्तमाल लिखे गये।

ने पास ही पड़े हुए एक संत के जूते को उठा कर कहा, "इससे अधिक अच्छा वर्तन मेरे लिए और क्या होगा ?" नाभादास ने उन्हें गले लगा लिया। नाभादास ने पहले चिढ़ कर तुलसी से संबंधित अपने प्रसिद्ध छप्पय में यह पंक्ति लिखी थी—'कलि कुटिल जीव तुलसी भए, वाल्मीकि अवतार धरि।" इस घटना के पश्चात् उन्होंने पंक्ति इस प्रकार बदल दी—"कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयो।" यह कहना कठिन है कि इस घटना में सत्य का अंश कितना है।

ज्यादातर इन्होंने रामभक्ति संबंधिनी कविता लिखी है। ब्रज-भाषा में भी ये अच्छी कविता करते थे। इन्होंने दो अष्टयाम भी लिखे—एक ब्रजभाषा गद्य में दूसरा रामचरितमानस की तरह दोहा-चौपाई में। तुलसी के संबंध में लिखा इनका छप्पय देखिये—

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन।
अब भक्तन सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी।
रामचरन रसमत्त रहत अहिनिसि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को न सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो॥

प्राणचंद चौहान—संस्कृत में राम के सम्बन्ध में बहुत से नाटक हैं। इनमें कुछ तो यथार्थ नाटक हैं, और कुछ को संवाद-रूप में होने के कारण नाटक की संज्ञा दे दी गई है। इस संवाद पद्धति पर सं० १६६७ में चौहान ने रामायण महानाटक लिखा। नीचे के उदाहरण से रचना के ढंग का आभास मिल सकता है—

कातिक मास पच्छ उजियारा।
तीरथ पुन्य सोम कर वारा॥

ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना।
शाह सलेम दिलीपति थाना ॥

हृदयराम—इन्होंने सं० १६८० में भाषा में एक हनुमन्नाटक लिखा जिसका आधार संस्कृत का हनुमन्नाटक था। ये पंजाब के रहने वाले और कृष्णदास के पुत्र थे। इनके नाटक की कविता सुन्दर तथा परिमार्जित है। तुलसीदास ने सभी प्रचलित शैलियों में राम-गुणगान किया था। केवल एक नाटक ही बचा था। अतः कई लोगों ने नाटक के द्वारा अपने हृदय में उमड़ती हुई रामभक्ति को प्रकट किया। रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत लिखे जाने वाले नाटकों में हृदयराम के हनुमन्नाटक का स्थान सब से ऊँचा है। नीचे एक उदाहरण देखिए:—

देखन जौ पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक हाथ,
दूजो न लगाऊँ वार करौं एक कर को।
मीजि मारौं उर ते उखारि भुजदंड, हाड़
तोरि डारौं बर अवलोकि रघुबर को ॥
कासों राग द्विज को, रिसात भहरात राम,
अति थहरात गात लागत है धरको।
सीता को संताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो,
को है वह आप चाप तोर्‌यो जिन हर को ॥

इसके अतिरिक्त और भी कवि हुए जिनमें कुछ प्रमुख ये हैं—

लीलादास (सं० १७००, अवधविलास नामक नाटक लिखा), वालभक्ति (सं० १७५०, नेह प्रकाश और मंजरी लिखी), रामप्रियाशरण (सं० १७६०, सीतायण लिखा), कलानिधि (सं० १७६९) और मधुसूदनदास (सं० १८३९, रामाश्वमेध इनकी प्रसिद्ध रचना है।)

रामभक्ति के साथ साथ हनुमान की उपासना भी आरंभ हुई। स्वयं तुलसीदास ने स्थान स्थान पर पवन-सुत की वंदना की है। रामचरित-मानस क बाद राम-चरित पर अनेक काव्यों की रचना हुई किंतु तुलसी के मानस के सामने उन सबका रंग फीका ही रहा।

रामभक्ति की काव्यधारा में सभी प्रकार की रचना शैलियों को विकसित होने का अवसर मिला। इसके विपरीत कृष्णभक्त कवियों ने अपनी रचना में केवल मुक्तक शैली तक ही अपने को सीमित रखा। इस कारण कृष्णभक्ति के साहित्य में रचना शैली की दृष्टि से एकांगिता आ गई है। यही बात उसकी भक्ति-प्रणाली के बारे में भी लागू होती है। वह यदि अतल-स्पर्शिनी है तो वह जीवन व्यापिनी और सर्वरूप प्रसारिणी है। उसमें नैतिक आदर्शों और सामाजिक मूल्यों की स्थापना पर जोर दिया गया है। लोकपक्ष की अवहेलना उसमें नहीं है। लोक चिंतक, लोक सुधारक और लोक उन्नायक के रूप में तुलसी अग्रणी हैं। मध्ययुग का लोक जीवन कितना पतित हो गया था यह कवि के बाल काल के वर्णनों से प्रकट हो जाता है। ज्ञान-कर्म समन्वित भक्ति की प्रतिष्ठा करके उन्होंने जीवन विरक्तों के सामने ही नहीं गृहस्थ जन समुदाय के सामने भी एक आदर्श रक्खा।

भक्ति का पूर्ण स्वरूप हमें रामभक्ति शाखा में ही मिलता है। जैसा कि शुक्ल जी ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखा है प्रेम और श्रद्धा के योग से भक्ति की उत्पत्ति होती है। जहाँ धर्म होता है वहीं श्रद्धा टिकती है। ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति धर्म है। भक्त जगत् के बीच इसी प्रवृत्ति का साक्षात्कार करना चाहता है। यह है सगुण भक्ति मार्ग का स्वरूप और विश्लेषण जिसका पूर्ण विकसित रूप तुलसी की रामभक्ति में मिलता है।

श्रद्धा रहित प्रेम पतित होकर शृंगारिकता और विलासिता मे परिणत हो जाता है। कृष्णशाखा भक्ति भगवान् के लोकरक्षक स्वरू की अवहेलना करके चली। परिणाम स्वरूप कालांतर में प्रत्येक नायव और नायिका कृष्ण और राधा के नाम से विभूषित हुए।

आजकल तुलसी की रामभक्ति को शृंगारिकता के दलदल में घसीट का प्रयत्न किया जा रहा है। यह रसिक पंथ अयोध्या के कुछ साधुओं मे बहुत पाया जाता है। ये राम की उपासना पत्नी भाव से करते हैं।

तुलसी के राम के चरित के इससे अधिक पतन की कल्पना नहीं क जा सकती। किस प्रकार नवीन जीवन, विस्तृत दृष्टि के अभाव में शुद्ध शुद्ध परंपरा दूषित हो जाती है, इसका अच्छा उदाहरण इस रसिक पंथ मे मिलता है। पर इसमें सन्देह नहीं है कि इस प्रकार के ह्रासोन्मुख पं अन्त में नष्ट हो जायँगे। रामभक्ति के शुद्ध, सात्विक, जीवनदायी प्रकाश व सामने यह विकारों का अन्धकार नहीं टिकेगा। भक्ति का असंयमित हं कर उच्छृंखल हो जाना समाज के लिए पतनावस्था का कारण होता है इतिहास इसका साक्षी है। आज जब मनुष्य के मन तथा जीवन-स्तरों मे परस्पर-विरोधी शक्तियाँ आधिपत्य जमाये हुए हैं उस समय तुलसी व समान ही एक युग-सामंजस्य का अनुसंधान करना होगा। चेतना को गंभीर विस्तृत तथा लोक-कल्याण-अनुवर्तिनी बना कर आज के अनमेल, विरोध तत्त्वों को समन्वित करना होगा। साथ ही जाति और राष्ट्र को शक्ति और समता के नये स्वर सुनाने होंगे। राम काव्य हमारा आदर्श होगा।

कृष्णभक्ति शाखा

इधर एक ओर तो रामभक्ति की वीणा की मृदु पर गंभीर घोष स समस्त उत्तर भारत झंकृत हो रहा था, दूसरी ओर चर्मचक्षु-विहीन किंतु आंतरिक चक्षुसंपन्न एक अंधे कवि ने कृष्णभक्ति की वीणा संभाली

और अपने कुशल वादन से मधुर रस की ऐसी वर्षा की कि समस्त जनता का हृदय उसमें डूबने उतराने लगा। रामभक्ति-शाखा ने यदि लोक संग्रह और लोक मर्यादा के दृष्टिकोण से घट घट में व्याप्त परमात्मा को राम की संज्ञा देकर समझाने का प्रयत्न किया तो उसकी बहिन कृष्ण भक्ति शाखा ने लोकरंजन और जीवन में माधुर्य तथा हृदय की कोमल प्रवृत्तियों को दृष्टि में रख कर इस जीवन और विश्व के महान् नाटककार को लीला पुरुषोत्तम कृष्ण का नाम देकर जनता को समझाने की कोशिश की। साथ ही सूरदास ने प्रकट और प्रच्छन्न उभय रूपों में समय समय पर इसका बोध कराया है कि कृष्ण सामान्य बालक नहीं हैं, परब्रह्म हैं और भक्तों के सुख और दुष्टों के दलन के हेतु ही संसार में आये हैं। कृष्ण की बाल लीला के साथ अद्भुत लीला भी चलती रहती है। कहीं कहीं सूर ने कृष्ण को उसी प्रकार परब्रह्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिस प्रकार आगे चल कर तुलसीदास ने किया है। सूर और तुलसी में मात्रा का भेद हो सकता है पर उनकी ब्रह्म दृष्टि में नहीं। कृष्ण की ब्रज लीला को सहज विलास और शत्रु संहार दोनों रूपों में उन्होंने लिया है।

वैष्णव-आन्दोलन के प्रधान प्रतिष्ठाताओं में स्वामी वल्लभाचार्य का ऊँचा स्थान है। इनके जन्म और मृत्यु संवत् १५३५ और १५८७ हैं। रामानुज, वल्लभाचार्य आदि के आश्रय से जो नवीन चिंता-धारा वैष्णव मत के नाम से निकल पड़ी थी, वह प्रथम और प्रधान रूप से शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया थी। वल्लभाचार्य ने कहा कि माया और विश्व स्वयं ब्रह्म की लीला हैं। इनमें से कुछ भी झूठ नहीं, कुछ भी मिथ्या नहीं। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव-तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म हैं और उनमें सत्, चित् और आनंद तीनों की समष्टि है। शंकर ने निर्गुण को ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप कहा किंतु वल्लभ ने उनकी बात पलट दी।

उन्होंने सगुण को ही यथार्थ स्वरूप कहा। इस सगुण ब्रह्म की उपासन के लिए श्रद्धा के तत्त्व की उन्होंने कोई आवश्यकता नहीं समझी। उन्हों ऐसी भक्ति ली जिसका प्रधान लक्षण प्रेम है। पवित्र-हृदय-प्रसूत प्रेम क यह धारा लोक और वेद के बंधनों से कैसे रुक सकती है! किन्तु भक्ति म प्रवृत्त होने के लिए भगवान् की कृपा की आवश्यकता है। यह कृपा पोषण या पुष्टि कहलाती है। इसी से वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित उपासना पद्धति पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस मार्ग का आरंभ देशकाल की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर किया गया है। वल्लभाचार्य स्वामी की पुस्तक 'कृष्णाश्रय' में तत्कालीन अवस्था का पर्याप्त वर्णन है। हिन्दू राज्य का पतन, मुसलमानी राज्य का क्रमशः दृढ़ होते जाना, मुसलमानी सभ्यता का हिन्दू सभ्यता और संस्कृति पर प्रभाव और सूफियों की धूमधाम इन सब बातों की ओर उक्त पुस्तक में संकेत मिलता है। संत-पंथ के लोग भी अपनी अटपटी वानी में कुछ पते की और कुछ वेपते की वात कहे जा रहे थे। अतः पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन बहुत कुछ समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर हुआ था।

वल्लभाचार्य भी वेदादि में पारंगत विद्वान् थे। वहुपठित होने के साथ साथ भारत के बहुत से भागों में भ्रमण करके इन्होंने काफी अनुभव प्राप्त किया और अपने मत का प्रचार किया। अंत में इनके एक श्रद्धालु भक्त पूरनमल खत्री ने गोवर्धन पहाड़ पर श्रीनाथजी का एक विशाल मंदिर वनवाया जिसमें श्री कृष्ण की उपासना का आयोजन वड़ी धूमधाम से होने लगा। मंदिर में विलास की सामग्री की कितनी प्रचुरता थी उसका इसी से पता लगता है कि लोग वहाँ "केसर की चक्कियाँ चलें हैं" कहते थे। इस मंदिर में अष्टछाप के कवियों के मुख से भक्ति की जो धारा निःसृत हुई है उसने समस्त समाज को अभिभूत कर दिया। यद्यपि इस उपासना में विलासिता के तत्त्व के मिश्रण के कारण यह भक्तिधारा तथा उससे

प्रभावित समाज विलासिता के अनिवार्य परिणामों से कालान्तर में कुछ दूषित तो हो गया, तथापि यह कहने में तनिक सी भी अतिशयोक्ति न होगी, कि इस पुनीत मंगल मय भक्ति धारा ने शुष्क होते हुए भारतीय हृदय को सींच कर फिर से हरा-भरा कर दिया। वह हरीतिमा इतनी गहरी हुई कि काल भी उसे न धो सका। इतनी विविधता कदाचित किसी भी साहित्यिक धारा में नहीं मिलेगी जितनी कृष्ण काव्य धारा में। न काव्य और कला एवं संगीत का इस मात्रा में मिश्रण ही मिलेगा। कृष्ण काव्य के प्रभाव के कारण ही रीति काव्य शतशः लौकिक नहीं बन सका। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना बड़ी मार्मिक है। इसमें जीवन के आभ्यान्तर पक्ष का विस्तृत उद्घाटन हुआ है। प्रेम दशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यंजना गोपियों के वचनों द्वारा कृष्ण काव्य में हुई है। एक प्रकार से समस्त कृष्ण काव्य धार्मिक रूपक है।

संसार के सभी देशों में, विशेषकर भारतवर्ष में यह बात देखने में आती है कि महापुरुष कालांतर में जनसाधारण के मन में ईश्वर की विभूतियों से संपन्न हो जाते हैं। समय की दूरी उनके महत्त्व में वृद्धि करती है। यही कारण है कि बुद्ध विष्णु के अवतार कहलाये और ईसा ईश्वर-पुत्र मान लिए गए। यही बात राम और कृष्ण के संबंध में हुई। महाभारत के शुरू के पर्वों में कृष्ण का चित्रण अवतार के रूप में नहीं हुआ है। भगवद्-गीता में उनकी अवतारणा सोलह कलाओं से युक्त भगवान् के अवतार के रूप में हुई है। वल्लभाचार्य, निम्बार्क, कृष्ण स्वामी और मध्वाचार्य इन सभी ने कृष्ण-भक्ति पर जोर दिया।

जैसा पहले लिखा जा चुका है कृष्ण भक्ति एकपक्षीय थी। भविष्य में इसके विलासिता में परिणत हो जाने के बीज भी इसमें मौजूद थे। दक्षिण में देवदासी की प्रथा प्रसिद्ध है। लोग लड़की को छुटपन से ही भगवान् के चरणों में अर्पण कर जाते थे। बड़ी होने पर वह भगवान् को ही वर लेती

थी और गा-नाच कर अपने परमेश्वर पति को रिझाने का प्रयत्न करती थी। दक्षिण की ऐसी भक्तिन अंदाल प्रसिद्ध हैं।

कृष्ण भक्ति परंपरा के कवियों[१] ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है वह इतनी अधिक है कि उसका ठीक ठीक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इन कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रायः गीतों के रूप में ही कीं। अतः मुक्तक को जो विशदता, गहराई और प्रौढ़ता इस काल में प्राप्त हुई वैसी उसके पहले कभी नहीं। रसों में भी शृंगार और वात्सल्य का कोई कोना अछूता न बचा। सूरदास का भ्रमरगीत पढ़ने के बाद वियोग शृंगार पर कलम उठाने का साहस नहीं होता। हिन्दी-साहित्य का यह अंश संसार में बेजोड़ है। वात्सल्य रस का इतना और इतना सुन्दर काव्य विदेशी साहित्य में नहीं है और न आशा है कि भविष्य की रचनाएँ इस सम्बन्ध में कभी सूर की बराबरी कर सकेंगी। जिस प्रकार रामायण, बाइबिल, इलियड आदि फिर से नहीं लिखे जा सकते उसी प्रकार सूरसागर के पदों की आवृत्ति भी असंभव-सी ही है।

कृष्णभक्ति धारा का अष्टछाप प्रसिद्ध है। यह आठ भक्त कवियों की एक मंडली का नाम है जिसमें बारी बारी से कवि गण अपने रचे हुए भक्ति

---

[१] कृष्ण काव्य में दृष्टिकोण का जितना वैभिन्न्य है उतना राम काव्य में नहीं है क्योंकि स्वयं राम की भावना में अधिक अन्तर नहीं पड़ा। श्रीमद्भागवत की मौलिक कृष्ण भावना पर सूफीमत और निर्गुण मत का प्रभाव पड़ा। बालक कृष्ण के प्रति भक्ति, राधाकृष्ण की युगल जोड़ी की क्रीड़ाओं का वर्णन, कृष्ण के प्रति सहज भाव, राधा को प्रधान मान कर भक्ति करना और अपने को राधा के स्थान पर रख कर कृष्ण के प्रति माधुर्यमयी उपासना आदि इस धारा के भेद हैं।

के गीत अपने इष्टदेव और सखा कृष्ण को समर्पित किया करते थे। इन कवियों के ये नाम हैं—

नंददास, चतुर्भुजदास, परमानन्ददास, सूरदास, कृष्णदास, कुंभनदास, छीत स्वामी और गोविन्द स्वामी। ये सब के सब स्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे और इन्हीं गायकों के गीतों से हिन्दी-साहित्य के एक अंश ने अनुपम समृद्धि प्राप्त की है।

कृष्ण के ब्रह्मस्वरूप माने जाने के विषय में कहा ही जा चुका है। महाभारत में राधा नाम की किसी गोपी का जिक्र नहीं है। राधा का नाम और विशद चित्र 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण में मिलता है। निम्बार्क मतावलंबी जयदेव और विद्यापति राधा को कृष्ण की प्रेमिका पहले ही चित्रित कर चुके थे। भागवत पुराण ने राधा के प्रचार में विशेष कार्य किया। यही कार्य बाद में वल्लभ संप्रदाय ने किया। राधा को आत्मा माना गया और अन्य आत्माओं से ब्रह्म के अधिक निकट माना गया। राधा शब्द संस्कृत धातु राध् से बना है। इसका अर्थ है सेवा करना अथवा प्रसन्न करना। राधा का व्यक्तित्व ऐतिहासिक नहीं है। वह दार्शनिकों, धर्मग्रंथों और कवियों की सूझ है। उनके चरित्र का निरन्तर विकास होता गया है। कृष्ण काव्य में सब से पहले राधा शब्द प्राकृत की गाथा सप्तशती में पाया जाता है। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् के आविर्भाव के आसपास है। इसके बाद के ग्रंथ पंचतन्त्र में राधा का नाम आता है।

रामभक्ति और कृष्णभक्ति की उपासना-पद्धति के अन्तर के संबंध में हम पहले ही कह आये हैं। राम की कल्पना मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान के रूप में की गई है। उनकी भक्ति में धर्म अपने पूर्ण स्वरूप में विकसित होता है। उसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का मणि-कांचन संयोग है। श्रद्धा और प्रेम के योग से ही भक्ति का उद्रेक होता है। इसके विपरीत कृष्ण भक्ति सर्वप्रथम प्रेमलक्षणा भक्ति है। प्रेम और मर्यादा का विरोध

अनादि काल से चला आता है। अतः कृष्ण भक्ति लोक मर्यादा अथवा शास्त्र मर्यादा के बंधनों को स्वीकार नहीं करती। इस कारण जहाँ तुलसी मौका देख कर ही राम के दरबार में हनुमान द्वारा अपनी फरियाद पहुँचाते हैं वहाँ सूरदास अपने सखा कृष्ण को बिना किसी संकोच के डाँट फटकार भी सुनाते हैं। वे उन्हें 'कारो कतहि न माने' भी कह सकते हैं। वे कृष्ण से इस प्रकार बात करते हैं मानों कृष्ण उनके अपने ही लोगों में से हैं।

हम भक्तिकाल की अंतिम धारा के संबंध में यहाँ लिख रहे हैं। जिस विशेष बात की ओर हम पाठकों का ध्यान यहाँ आकर्षित करना चाहते हैं वह है मध्ययुग के संतों के सामान्य विश्वास। इन संतों के साहित्य का अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि वे चाहे निर्गुण मत के हों अथवा सगुण धारा के, उनकी विचारधारा में एक विशेष साम्य है। पहली बात जो हमें दीख पड़ती है वह है भक्त का भगवान के साथ एक विशेष व्यक्तिगत संबंध। अतः कबीर कहते हैं "हे भगवान्! तू मेरी माँ है, मैं तेरा बालक हूँ; मेरा अवगुण क्यों नहीं बख्श देती?" उनके निर्गुण राम निर्गुण न रह कर भक्तों के भगवान बन जाते हैं। दूसरे इन भक्तों की साधना का चरम उद्देश्य है भगवान के साथ लीला। ये मुक्ति नहीं चाहते, भगवान के अंश में लीन होना नहीं चाहते।[1] इनकी दृष्टि में प्रेम ही परम

---

[1] दरसन दे दरसन देहों तो तेरी मुकुति न माँगों रे।
सिधि ना माँगों, रिधि ना माँगों तुम्हहीं माँगों गोविन्दा ॥ (दादू)
अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रघुपति भगति यह वरदान न आन ॥ (तुलसीदास)
भगति भगत भगवंत गुरु, नाम रूप वपु एक।
इनके पद वंदन किये नासैं विघन अनेक ॥ (भक्तमाल)

पुरुषार्थ है और भगवान की लीला ही इनकी चरम साधना का फल है। कवीर कहते हैं—"हाय, मेरे वे दिन कव आवेंगे जव मैं अंग से अंग लगा कर मिलूंगी, जिसके लिए मैंने यह देह धारण की है।" इस युग की एक अन्य समान धर्मिता है प्रेम के आधार पर भक्त और भगवान की समता। यह कहा गया है कि 'राम से अधिक राम कर दासा।' एक अन्य समानता जो इन विभिन्न उपासना पद्धतियों में हमें दृष्टिगोचर होती है वह है गुरु का महत्त्व। गुरू की वात विना विचार के ही करना चाहिए। कवीर ने कहा है—"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाई?" इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुगीन भक्त साहित्य भक्त, भगवान और गुरु की महिमा से भरा पड़ा है। सभी भक्त अपनी दीनता जताते हैं, आत्म-समर्पण पर विश्वास रखते हैं और हरि-कृपा से ही मुक्ति संभव है, ऐसा विश्वास रख सकते हैं।

ऊपर थोड़ा सा विषयान्तर हो गया है। किंतु हम भक्ति युग अब समाप्त कर रहे हैं और विषयान्तर में कथित वस्तु का संवंध समस्त भक्तिकालीन साहित्य से है। नीचे कृष्ण भक्ति-शाखा के प्रमुख कवियों का संक्षिप्त विवरण देने के पूर्व दो चार वातें और कह कर यह भूमिका भाग समाप्त किया जाता है। राम काव्य की भाँति कृष्ण काव्य ने भी आर्य संस्कृति को विजातीय आक्रमणों के प्रवल झंझावात से निकाल कर सुदृढ़ मानस भूमि पर स्थापित किया है। भक्ति काव्य ने स्वतः सुख के लिए लोक-व्यक्तित्वों की वहुजन हिताय गाथा को गाकर जनमत में वितरित कर दिया। लोक सेवा और जन परिष्कार का आदर्श उनके सामने था। यह सेवा आत्म-त्यागमूलक है। यह समस्त सृष्टि भगवान के प्रेमानन्द से उच्छ्वासित है। परिपूर्ण प्रेममय आनन्द के द्वारा ही उसे अनुभव किया जा सकता है। भक्तिकाल के अन्तर्गत आने वाले सगुण और निर्गुण का लोकपक्ष भी है। राष्ट्र निर्गुण, व्यक्ति या जन सगुण है और प्रत्यक्ष सिद्ध

है। सगुण जन के कल्याण में ही आनन्द है। रस का पूर्ण परिपाक नहीं होता है। कोरा सिद्धान्तवाद निर्गुण या अमूर्त है। जन का जीवन मूर्त और प्रेम-दया का पात्र है। हमारे समस्त सिद्धान्तों और मतों को सगुण जन-जीवन की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। जीवन से विमुखता का ही दूसरा नाम शून्यता है। जीवन स्वयं गोपियों की भाँति रस-तृप्ति और सुख-संस्कार का इच्छुक है। भक्ति काव्य में मर्यादा-पूर्ण संश्लेषण श्रद्धा और ज्ञान के धरातलों पर हुआ है। ज्ञान के अनेक टुकड़े हो सकते हैं पर मानव की चिर जागृत प्रवृत्ति श्रद्धा की इकाई द्वारा विश्वास और रस की पूर्णता संकलित करती है।

अष्टछाप के कवि

सूरदास—अष्ट छाप के कवियों के नाम हम पहले ही दे चुके हैं। कहना न होगा कि इस मंडली के शिरोमणि महात्मा सूरदास थे। इनके जीवन के सम्वन्ध में थोड़ा वहुत संकेत "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" में मिलता है। उसके अनुसार पहले ये साधु के वेश में गऊ घाट पर रहा करते थे। एक दिन संयोगवश स्वामी वल्लभाचार्य से इनकी भेंट हो गई। इस अंधे साधु का पद सुन कर स्वामीजी वड़े प्रभावित हुए और उन्होंने सूरदास को तत्काल अपना शिष्य वना कर. अपने पदों में भागवत की कथा का वर्णन करने का आदेश दिया। वाद में सूरदास के पदों की मार्मिकता देख कर गोवर्द्धन पर स्थित श्रीनाथ के मन्दिर की कीर्तन सेवा इन्हीं के सुपुर्द कर दी गई।

सूरदास के जन्म और वंश के संवंध में कई प्रवाद प्रचलित हैं। कहा जाता है कि इनका जन्म सं० १५२९ में सीही ग्राम में हुआ था। वहाँ से ये रुनकता और गऊ घाट पर रहे। एक मत से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं और दूसरे मत से हिन्दी के आदि कवि चंदवरदाई भाट के वंशज। इस छोटी सी पुस्तक में इन प्रवादों को जाँच कर सत्यता का अंश निकालना संभव नहीं। दूसरे यह साहित्य के गंभीर अन्वेषकों का काम है।

इसी प्रकार इनके अंधेपन के बारे में भी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि एक वार ये कुएँ में गिर पड़े। वहाँ श्रीकृष्ण ने दर्शन देकर इन्हें दृष्टि संपन्न कर दिया। किंतु जिन आँखों से उन्होंने श्रीकृष्ण की छवि निहारी थी उन्हीं से इस नश्वर संसार को देखने की इच्छा न हुई। अत:

सूरदास ने अंधे बने रहने का ही वर माँग लिया। अच्छा हो कि हम इस प्रचलित कथा को एक प्रकार का रूपक मान लें। क्योंकि रंग, रूप आदि के जो सजीव और चित्रोपम वर्णन सूर ने अपने पदों में किए हैं, उन्हें पढ़ कर यह विश्वास करते नहीं बनता कि वे जन्मांध थे। संभव है कुएँ में गिरने के बाद इनकी ज्ञान की आँखें खुल गई हों और इस प्रकार ये अन्तर के चक्षुओं से संपन्न हो गए हों। सूर की वाणी से भी यह सिद्ध नहीं होता कि ये जन्मांध थे। उन्होंने आँख के विषय में बहुत कुछ लिखा है और अनेक रूपों में लिखा है। "सूरदास की एक आँखि है ताहू में कछु कानौं", "सूरदास सौं कहा निहोरौ, नैनन हूँ की हानि", "सूर कूर आँधरौ, मैं द्वार परचौ गाऊँ" आदि न जाने कितने स्थल सूरसागर में आये हैं जिनसे निष्कर्ष निकलता है कि सूर जन्मांध नहीं थे—हाँ धीरे धीरे अंधे हो गए थे।

सूरदास ने, तुलसी की भाँति अपने काव्य में उतनी व्यापक भावना का समावेश तो नहीं किया किंतु तत्कालीन समाज के प्रति वे पूर्ण रूप से जागरूक थे। सूरदास के समय के भारतीय समाज के सामने कोई ऊँचा आदर्श न था। उच्चवर्गीय लोग विलासिता के पंक में फँसे थे। कवि ने बड़ी प्रभावशाली भाषा में इस पतन का वर्णन किया है। समाज की विषम परिस्थिति देख कर आरंभ से ही उनके मन में एक प्रकार की विरक्ति उत्पन्न हो गई थी। किंतु सूर का हृदय एक बालक का हृदय था और इसी हृदय से उन्होंने इस भव की कठिन यात्रा तय कर ली। एक दृष्टि से सूरदास ने राधा और कृष्ण के जिन प्रेम-व्यापारों का वर्णन अपने पदों में किया है वे बालकों के ही प्रेम-व्यापार हैं। यही कारण है बालक-हृदय की प्रवृत्तियों के चित्रण में सूर ने जिस सूक्ष्मदर्शिता और अन्वेषण शक्ति का परिचय दिया है वह विश्व साहित्य में बेजोड़ है।

सूर के पदों का संग्रह 'सूरसागर' नामक एक वृहत् ग्रन्थ में किया गया है। इसमें एक ही प्रसंग को लेकर अनेक पदों की रचना की गई है।

जैसा कि डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने हिन्दी के इतिहास में लिखा है, भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद इस अंधे कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें प्रतिभा का नवोन्मेष भरा हुआ है; उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

कहा जाता है कि सूरसागर* में सवा लाख पदों का संग्रह था। किंतु अब तक हमें पाँच या छः हजार पद ही मिले हैं। यही उन्हें अमर कर देने के लिए पर्याप्त हैं। सूरसागर का आधार श्रीमद्भागवत है। उसमें भागवत की संपूर्ण कथाओं को कवि ने गाया है किंतु विशेष विस्तार कृष्ण जन्म से लेकर कृष्ण के मथुरागमन तक की घटनाओं को ही दिया गया है। ये पद हैं तो मुक्तक किंतु प्रत्येक में एक भाव अपनी पूर्णता पर पहुँच जाता है। इस दृष्टि से सूरसागर एक बड़ा गीत-काव्य है। मुक्तक अथवा गीत-काव्य की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। उसमें छोटे किंतु सुन्दर प्रसंगों पर रचना होती है। प्रत्येक गीत स्वयं अपने में पूर्ण होता, है, भाव अथवा अर्थ के लिए उसे दूसरे गीत का अवलंबी नहीं बनना पड़ता। किसी एक भाव का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया जाता है। उस वर्णन में विदग्धता तथा तीव्रता भी पर्याप्त मात्रा में रहती है। इस प्रकार पूरा गीत एक छोटा सा मुकुर बन जाता है जिसमें कवि की एक विशेष समय की मनोदशा पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हो उठती है। गीत-काव्य की ये सभी विशेषताएँ सूरसागर

---

*गोलोकवासी महाकवि रत्नाकर द्वारा संग्रहीत और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रदत्त सामग्री के आधार पर सूरसागर का सब से प्रामाणिक संस्करण पं० नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित सभा से प्रकाशित हुआ है। इसमें सूरसागर के समस्त प्रामाणिक उपलब्ध पदों का शुद्ध पाठ मिलता है।

के पदों में पूर्ण रूप से मिलती हैं। इन पदों में घटनाओं के वर्णन कम हैं और कठोर भावों को स्थान नहीं मिला है। पूरे सूरसागर में कथा कहने की प्रवृत्ति नहीं है। प्रेम, विरह आदि कोमल भावों की तीव्र अभिव्यक्ति ही कवि का उद्देश्य है।

जैसा कि पहले कई बार कहा जा चुका है, ये कृष्ण भक्त कवि कृष्ण की प्रेम मूर्त्ति को ही लेकर चले हैं। इनके कृष्ण कुरुक्षेत्र के प्रांगण में मोह भ्रमित सव्यसाची को कर्तव्य का निर्देश करने वाले कृष्ण नहीं हैं। इनके कृष्ण हैं बालगोपाल और गोपीनाथ जो बाल्यावस्था में अपनी बाल क्रीड़ा से समस्त गोकुल को मुग्ध करते थे और तरुणावस्था में व्रज की पनिहारियों से छेड़ छाड़ किया करते थे अथवा शरद पूर्णिमा की शुभ्र राका में रास लीला से गोपियों के जन्मजन्मांतर सार्थक करते थे। कृष्ण का यह मधुर रूप हास विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौन्दर्य का सागर है। भक्ति में वेहोश इन कवियों ने लोक संग्रह की परवाह न की और न इन्हें इस बात का ही ध्यान रहा कि असंस्कृत चित्त इस भक्ति माधुर्य को विलासिता के पंक में घसीट ले जा सकता है।

कृष्ण चरित के गान में जयदेव और विद्यापति पहले ही अपने पद चिन्ह छोड़ गये थे। व्रज के भक्त कवियों ने उन्हीं का अनुसरण किया। इस प्रकार कृष्ण काव्य मुक्तक में ही अधिकतर लिखा गया। व्रजवासीदास ने रामायण के ढंग पर कृष्ण चरित लिखा है पर वह बहुत ही मामूली दर्जे का वन पड़ा और न उसका प्रचार ही रामायण के समान हो पाया।* इस

---

* अभी हाल में अवधी भाषा में पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन की कथा अपने महाकाव्य कृष्णायन में चित्रित की है जिसका स्रोत केवल श्रीमद्भागवत नहीं है—महाभारत और अन्य पुराण भी हैं। परन्तु यह कृष्ण संप्रदाय की परंपरा का काव्य नहीं है। इसमें कवि ने

असफलता का कारण स्पष्ट है। कृष्ण के जीवन के जिस अंश को इन कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया वह प्रवन्ध के लिए पर्याप्त न था। मुक्तक की रचना ही उसमें हो सकती थी। यह विना किसी अति-शयोक्ति के कहा जा सकता है कि मुक्तक के क्षेत्र में वात्सल्य और शृंगार रस को ये भक्त कवि जिस सीमा तक ले गए हैं, उससे आगे जाना संभव नहीं है। आगे आने वाले कवियों की इन रसों की रचनायें सर की जूठन-सी जान पड़ती हैं।

सूरदास जी ने चलती हुई व्रजभाषा में ही अपने पदों की रचना की है। किंतु भाषा की मँजावट देख कर यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि व्रजभाषा प्रथम वार ही प्रयुक्त होकर इस रूप में निखर आई। इसी कारण स्व० शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा है कि सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य-परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।

सूर और तुलसी हिन्दी काव्य-गगन के वास्तव में सूर्य और चन्द्र हैं। यह दोहा प्रसिद्ध है—

किंधौं सूर को सर लग्यो, किंधौं सूर को पीर।
किंधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल शरीर॥

यह सच है कि सूर का विषय तुलसी के विषय की अपेक्षा सीमित था, किंतु यह भी इतना ही सत्य है कि अपने सीमित विषय में गहराई की दृष्टि से तुलसी तो क्या संसार का कोई कवि सूर के समकक्ष नहीं हो

लोक संग्रह की भावना को सम्मुख रक्खा है। कवि ने विभिन्न स्रोतों से संचित घटनाओं को इस कौशल से प्रबद्ध किया है कि कथा की एक-सूत्रता कहीं भी विच्छिन्न नहीं होती है।

सकता। प्रेम के इस साफ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहि
में और कहीं नहीं देखने को मिलता। गहरी से गहरी दृष्टि वाल स्वभा
का इससे अधिक और क्या सुंदर चित्र दे सकती है—

काहे को आरि करत मेरे मोहन ! यों तुम आंगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी॥

अथवा

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन संग तबहिं खिझत बल भैया॥
मो सों कहत तात बसुदेव को, देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दे वसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया॥

अथवा

मैया मेरी, मैं नहिं माखन खायो।
भोर भये गैयन के पाछे मधुबन मोहिं पठायो॥
चार पहर बंसीबट भटक्यो सांझ परे घर आयो।
मैं बालक बहियन को छोटो छीको किस बिध पायो॥
ग्वाल बाल सब वैर परे हैं, बरवस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतियायो॥ इत्यादि

विप्रलंभ शृंगार के सुन्दर पदों के कुछ उदाहरण देखिये:—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यौ॥
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यौ।

अथवा जब ज्ञान मदमत्त ऊधव के निर्गुण निरूपण से वियोगिनी
ब्रज बालाएँ ऊब जाती हैं तो अपने प्रिय के संदेश-वाहक से कहती हैं—

ऊधो योग जोग हम नाहीं ।
अबला सार ज्ञान कहा जानैं कैसे ध्यान धराहीं ॥
ते ये मंदन नैन कहत हैं हरि मूरत जा माहीं ।
ऐसी कथा कपट की मधुकर हमतें सुनी न जाहीं ॥

भ्रमरगीत सूरसागर का सब से अधिक मार्मिक अंश है । सूर की एक अन्य बड़ी भारी विशेषता है उनकी नवीन प्रसंगों की सृष्टि कर सकने की शक्ति। तुलसी में हमें यह बात नहीं मिलती । वर्तमान भ्रमरगीत का प्रसंग भागवत में नहीं आता। यह सूर की प्रसंगोद्भाविनी प्रतिभा का ज्वलंत उदाहरण है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका में लिखते हैं कि "सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानों अलंकार शास्त्र हाथ जोड़ कर उनके पीछे दौड़ा करता है । उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है ।"

सूरदास न तो ज्ञान मार्गी थे और न समाज सुधारक। तुलसी की भाँति दृढ़चेता लोकनायक भी नहीं थे जो सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में सरस्वती का तरकश खाली करते। नन्ददास का तर्क-जाल भी उनके पास नहीं था। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो दुनिया की पंचायतों से दूर अपने इष्टदेव और सखा कृष्ण की रूप माधुरी का पान तथा गान किया करते थे। भक्ति विह्वल हृदय की तन्मयता और बेसुधपन उनमें कूट कूट कर भरा है। पुजारी का हृदय किस परिपूर्णता तक उपास्य के श्रीचरणों पर समर्पित हो सकता है यह सूर की कविता में प्रकट हुआ है। उनकी रूप-सज्जा, चित्र बनाने की शक्ति और कला-रचना भी

बेजोड़ है। काल्पनिकता, रसात्मकता, व्यंग वैभव और सरसता का ऐसा अनुपम रसायन है जिसने अप्राकृत अलौकिक परब्रह्म की लीला को प्राकृत रूप दे दिया है। हरि लीला के इस मानव रूप से आशा, उल्लास और कर्तृत्व की जो धारा बही उसने निराश हिन्दू जाति को अकर्मण्यता के गह्वर गर्त में गिरने से बचा लिया।

नंददास—अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नंददास का ही नाम लिया जाता है। इनके जीवन के विषय में हमें विशेष नहीं मालूम। नाभादास रचित भक्तमाल में इनके विषय में सिर्फ यह पंक्ति मिलती है—

'चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम प्रेम-पथ में पगे'

ये विट्ठलदास के शिष्य थे और विट्ठलदास के पुत्र गोकुलनाथ द्वारा लिखित "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता" में इनके जीवन का कुछ वृत्त मिलता है। इसके अनुसार नंददास तुलसीदास के भाई थे। राम के अनन्य भक्त तुलसी को अपने भाई की कृष्ण भक्ति अच्छी न लगी और उन्होंने नन्ददास को कुछ उलाहना दिया। इससे रामायण के समान श्रीमद्भागवत के आधार पर कृष्ण चरित गाने की प्रेरणा नंददास को मिली। 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेव हाथ' में वर्णित घटना प्रायः सब को मालूम है और इसका आधार भी उक्त वार्ता है। किंतु ये वृत्त सब कपोलकल्पित हैं और विद्वानों ने इस बात को निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि गोस्वामी जी और नंददास का कोई संबंध नहीं था। सिर्फ भक्तों का गौरव बढ़ाने के लिए इन घटनाओं की कल्पना कर ली गई थी।

उपर्युक्त वार्ता के आधार पर इनके जीवन के संबंध में एक और कथा प्रचलित है। ये एक अपूर्व सुन्दरी के प्रेम में पागल हो गए थे और उसके

पीछे गोकुल तक चले गए। वहाँ विट्ठलनाथ के उपदेश से इनका मोह दूर हो गया। इस रूपक का भी शायद इतना ही अर्थ है कि विट्ठलनाथ जी से इन्होंने दीक्षा ली थी।

इनकी गणना ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में होती है। माधुर्य और सरसता की दृष्टि से इनकी रचनायें निस्संदेह बड़ी सुन्दर हुई हैं। इनके संबंध में अक्सर कहा जाता है—"और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया"। इनकी सब से प्रसिद्ध रचना 'रास-पंचाध्यायी' में कृष्ण की रासलीला का वर्णन बड़ी ही अलंकृत भाषा में किया गया है। सूर की भाषा चलती हुई अधिक है पर नंददास की पदावली संस्कृत गर्भित है। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य पुस्तकें ये हैं—भागवत दशम-स्कंध, रुक्मिणी मंगल, सिद्धान्त-पंचाध्यायी, रूपमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी, विरह मंजरी, नामचिंता-मणिमाला, अनेकार्थनाममाला, ज्ञानमंजरी, दानलीला, मानलीला, अने-कार्थ मंजरी, श्यामसगाई, भ्रमर गीत और सुदामा चरित। नंददास ने कुछ फुटकर पद भी लिखे हैं। रासपंचाध्यायी के बाद भ्रमरगीत ही इनकी सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना है। भ्रमरगीत में कवि ने बड़े मार्मिक ढंग से विरहिणी गोपियों द्वारा ऊधव के निर्गुण ब्रह्म के उपदेश को धराशायी करके सगुण रूप की महिमा और श्रेष्ठत्व प्रतिष्ठित कराया है। इस रचना से मालूम पड़ता है कि नंददास सूरदास की अपेक्षा तार्किक ज्यादा और कवि कम थे। नीचे कुछ उदाहरण उनकी रास-पंचा-ध्यायी और भ्रमरगीत में से दिये जाते हैं—

(रासपंचाध्यायी से)

हरि लीला रस मत्त मुदित नित विचरत जग में।
अद्भुत गति कतहुं न अटक ह्वै निकसत मग में॥
नीलोत्पलदल श्याम अंग नव जोबन भ्राजै।
कुटिल अलक मुखकमल मनो अलि अवलि विराजै॥

ललित बिसाल सुभाल दिपति जनु निकर निसाकर।
कृष्ण भगति प्रतिबन्ध तिमिर कहं कोटि दिवाकर॥
कृपा रंग रस ऐन नैन राजत रतनारे।
कृष्ण रसासव पान अलस कछु घूम घुमारे॥

(भ्रमरगीत)

सुनत श्याम को नाम, ग्राम गृह को सुधि भूली।
भरि आनन्द रस हृदय, प्रेम बेली द्रुम फूली॥
पुलकि रोम सब अंग भये, भरि आये जल नैन।
कण्ठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन॥
व्यवस्था प्रेम की॥

पद

नंदभंवन को भूषण माई।
यसुदा को लाल बरि हलधर को, राधारमण परम सुखदाई॥
शिव को धन संतन को सरबस, महिमा वेद पुरानन गाई।
इन्द्र को इन्द्र देव देवन को, ब्रह्मा को ब्रह्म अधिक अधिकाई॥
काल को काल ईश ईशन को, अतिहि अतुल तोल्यो नहिं जाई।
नन्ददास को जीवन गिरिधर, गोकुल गाँव को कुँअर कन्हाई॥

कृष्णदास—ये जाति के शूद्र थे और इनका जन्म सं० १५५४ [illegible] अहमदाबाद के पास हुआ था। निम्न वर्ग के होने पर भी बाल्यावस्था [illegible] ही बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के थे। अपने पिता द्वारा एक बनजारे को लू[illegible] जाने का विरोध करने के परिणामस्वरूप इन्हें घर से निकाल दिया गय[illegible] था। ये वल्लभाचार्य के शिष्य थे और स्वामी विट्ठलनाथ की कृपा [illegible] श्रीनाथ के मंदिर के प्रधान अधिकारी के पद पर प्रतिष्ठित हुए। कहा जात[illegible] है कि एक बार विट्ठलदास जी से किसी बात पर अनबन हो गई। परि[illegible]

णामस्वरूप विट्ठलनाथ जी के श्रद्धालु राजा बीरबल ने इन्हें कारागार में बन्द कर दिया और उनके यहाँ से मुक्ति गोसाईं जी की कृपा से ही हुई। बाद में इन्हें फिर से मन्दिर के प्रधान पूजक का पद मिल गया। इनकी कविता का विषय राधाकृष्ण का प्रेम रहा है। कविता साधारण कोटि की हुई है। नंददास और सूरदास की कविता से उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। कविता शृंगार रस प्रधान है। इनके ग्रंथ ये हैं—जुगलमान-चरित्र, भ्रमर गीत और प्रेमतत्त्वनिरूपण।

उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है—

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंद सुवन के संगम सुखकर अधिक विराजति गोपी॥
मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित सुरतधुजा सुख रोपी।
बदन कांति कै सुन री भामिनी ! सघन चंद श्री लोपी॥
प्राननाथ के चितचोरन को भौंह भुजंगम कोपी।
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हें, प्रेम पुंज की चोपी॥

परमानन्ददास—ये कन्नौज में पैदा हुए थे और इनका जन्म सं० लगभग १५५० है। ये वल्लभाचार्य के शिष्य और अष्टछाप में थे। एक भावुक कवि होने के अतिरिक्त ये अच्छे संगीतज्ञ भी थे। इनके फुटकर पदों का संग्रह परमानन्द सागर में है। इनके पदों में सरसता तो है ही, तन्मयता का गुण भी काफी अधिक मात्रा में पाया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इनके एक भावपूर्ण पद को सुनकर आचार्य वल्लभ भक्ति के आवेश में ऐसे वहे कि कई दिनों तक वे पूर्ण स्वस्थ न हो सके। इनकी अन्य पुस्तकें ये हैं—दान लीला और ध्रुव चरित्र। इनका एक बहु उद्धृत पद नीचे दिया जाता है:—

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय ।।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छाँय ।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तज मेरी जाय बलाय ।।

कुंभनदास—ये परमानन्ददास के समय में वर्तमान थे। ये अष्टछाप के कवि और वल्लभाचार्य के शिष्यों में से थे। इनका जन्म सं० १५२५ के लगभग है। ये अत्यन्त ही निस्पृह और संत स्वभाव के व्यक्ति थे। सांसारिक समृद्धि और यश से सदा दूर भागते थे। कहा जाता है कि एक बार अकबर ने इन्हें फतहपुर सीकरी बुलाया और इनका बड़ा सम्मान किया। किंतु यह प्रतिष्ठा इनका चित्त सदा दुःख से भरती रही। इन्होंने अपने एक पद में लिखा भी है—"संतन को कहा सीकरी सों काम ?"

इनकी कोई रचना नहीं पाई जाती। केवल फुटकल पद ही मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है—

संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि-नाम ।।
जिन को मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम ।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ।।

चतुर्भुजदास—ये कुंभनदास के पुत्र थे और इनका जन्म संवत् १५९७ के लगभग है। ये भी अष्टछाप के एक कवि थे और गोसाईं विट्ठलनाथ से इन्होंने दीक्षा ली थी। इनकी भाषा में अच्छी व्यवस्था है। ये बाल्यावस्था से ही संगीत में रुचि रखते थे। इनका मृत्यु संवत् १६४२ है। इनकी निम्नलिखित पुस्तकें मिली हैं—भक्ति प्रताप, द्वादशयश, हितजू को मंगल। इनकी रचनाओं में कवित्व की अपेक्षा संगीत की मात्रा अधिक है। उदाहरण के लिए एक पद नीचे दिया जाता है—

रस ही में वश कीने कुँवर कन्हाई ।
रसिक गोपाल रस ही रीझत रस मिल रस त्यज माई ।।
पिय को प्रेम रस सुन्यो है रसीली वाल रस में वचन श्रवन सुखदाई ।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर सव रसनिधि रसता मिलि है रहसि हृदय लपटाई।।

छीत स्वामी—सं० १५७२ के आसपास मथुरा में इनका जन्म हुआ था। पहले ये मथुरा में पंडागिरी करते थे और राजा वीरवल ऐसे संपन्न लोग इनके यजमानों में से थे। सं० १५९२ के आसपास ये विट्ठलनाथ जी से दीक्षित हुए और इन्होंने सव उद्दंडता छोड़ कर कृष्ण भक्ति में अपना मन लगाया। इनके कोई ग्रंथ विशष प्राप्त नहीं हुए। केवल फुटकर पद ही इधर उधर दिखाई पड़ते हैं। शृंगार रस के अतिरिक्त व्रज के प्रति प्रेम-भावना भी इनकी कविता में पाई जाती है। किन्तु उसमें कोई खास खूबी नहीं। इनका एक पद दिया जाता है—

भोर भए नवकुंज-सदन तें आवत लाल गोवर्द्धनधारी ।
लट पर पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी ।।
बिनु-गुन माल विराजति उर पर, नखछत द्वैजचंद अनुहारी ।
छीत स्वामि जब चितए मो तन, तव हौं निरखि गई वलिहारी ।।

गोविन्द स्वामी—ये भरतपुर राज्य के आंतरी गाँव में सं० १५६२ के लगभग पैदा हुए थे। संभवतः संसार से विरक्त हो महावन में स्थायी रूप से रहने लगे थे। पीछे ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के संसर्ग में आये और उन्हीं से दीक्षित होकर अष्टछाप में शामिल हो गए । इनका रचनाकाल सं० १६१२ के आसपास माना जा सकता है। गोवर्द्धन पर्वत के पास ही इन्होंने कदंव का एक उपवन लगवाया जो आज तक 'गोविन्द स्वामी की कदंव खंडी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये अच्छे संगीतज्ञ भी थे और कहा जाता है कि तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने आया करते थे।

इनकी कोई अलग पुस्तक नहीं मिलती। केवल फुटकल पद ही मिलते हैं। इनके बारे में यह कहा जाता है कि ये अपने वनाये पद लोगों को सुनाने के बाद यमुना में फेंक दिया करते थे। इनकी भतीजी ने जो पद चुरा कर बचा लिए थे वे ही हमें प्राप्त हुए हैं। कविता तो इनकी साधारण है पर कृष्णभक्ति से भीगी हुई है। एक उदाहरण दिया जाता है—

कही न परै हो रसिक कुँवर की कुँवराई।
कोटि मदन नख ज्योति बिलोकत परसत-नव इंदु किरण की जुन्हाई॥
कंकण वलय हार गजमोती देखियत अंग अंग में वह आई।
सुघर सुजान स्वरूप सुलक्षण गोविंद प्रभु सब बिधि सुन्दरताई॥

ऊपर अष्टछाप * के अन्तर्गत आने वाले आठों कवियों के जीवन और रचना के संबंध में संक्षिप्त विवरण दिया गया है। यह नहीं समझना चाहिए कि कृष्णभक्त कवियों की संख्या यहीं खत्म हो जाती है। यह परंपरा तो दीर्घ काल तक चलती रही। किंतु अष्टछाप ने अपने संगीत और भक्ति से भीगे पदों द्वारा वैष्णव मत के फैलाने में विशेष सहायता पहुँचाई। अतः महत्व की दृष्टि से कृष्ण कवियों की परंपरा में अष्टछाप को ही शीर्ष स्थान दिया जाता है। नीचे लिखे दोहे से अष्टछाप के कवियों का नाम सरलता से याद रखा जा सकता है—

---

*अष्ट छाप के कवियों के जीवन वृत्त और रचनाओं पर डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने महाग्रन्थ "अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय" में बड़ी प्रामाणिकता और विस्तार से विचार किया है। बड़े अधिकार और मार्मिक रसानुभूति के साथ विद्वान आलोचक और अन्वेषक ने इन सन्त कवियों के जीवन दर्शन और जीवन विज्ञान पर विचार किया है।

नन्द चतुर्भुज छीत (युत) गोविन्द स्वामी (धार)।
सूर, कृष्ण, परमानन्द, कुंभनदास विचार॥

अष्टछाप के बाद भी कृष्णकाव्य-परंपरा में अनेक कवि हुए हैं जिनका हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना स्थान है। कृष्णभक्ति की जो धारा अष्टछाप से निकल कर वही उसे इन अन्य कवियों ने अपनी कविता की सहायक धाराओं से और भी पुष्ट किया। आगे हम अब इन्हीं कवियों की रचनाओं और जीवन का संक्षिप्त परिचय देंगे।

हितहरिवंश—इनका जन्म सं० १५५९ में मथुरा के पास बादगाँव में हुआ था। ये एक नये सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे और अष्टछाप के बाहर ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति के गीत गाने वालों में इनका उच्च स्थान है। इन्होंने राधावल्लभी संप्रदाय चलाया जिसमें राधा की उपासना पर जोर दिया। इन पर माध्व और निंबार्क मत का प्रभाव लक्षित होता है। पहले हितहरिवंश गोपाल भट्ट के शिष्य थे। कहते हैं कि राधा ने एक बार इन्हें सपने में मंत्र दिया और उसी समय से इन्होंने राधावल्लभी संप्रदाय की स्थापना की।

ये अकसर वृन्दावन में रहा करते थे और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे और भाषा-काव्य की अच्छी जानकारी रखते थे। इन्होंने संस्कृत में १७० श्लोकों का 'राधा सुधानिधि' नाम का एक ग्रंथ लिखा है। ब्रजभाषा में आपने लिखा तो थोड़ा ही है किंतु जो कुछ भी लिखा है वह अत्यन्त सरस और हृदयग्राही है। आपके द्वारा रचित ८४ पदों का संग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है। प्रेमदास ने ब्रजभाषा गद्य में इस ग्रंथ की ५०० पृष्ठों की एक बृहत् टीका की है।

ब्रजभाषा काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने में हितहरिवंश के पदों ने बड़ा कार्य किया। सेवक जी, ध्रुवदास आदि इनके अच्छे शिष्य हुए जो अच्छे कवि भी हो गए हैं। हितहरिवंश जी की रचना में माधुर्य विशेष रूप

से पाया जाता है। यही कारण है कि आप कृष्ण की वंशी के अवतार माने गए हैं। इन्होंने सिद्धांत सम्बन्धी पद्यों को भी रचना की है। कवि लोकनाथ ने इनके 'हित चौरासी' पर एक टोका लिखी। वृन्दावनदास की 'हितजू को सहस्र नामांवली' और चतुर्भुजदास के 'हितजू को मंगल' में हितहरिवंश जी की प्रशंसा की गई है। हरिपरमानन्द और व्रजजीवनदास ने भी इनकी वन्दना में कुछ लिखा है। नोचे हितहरिवंशजी की रचना के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।
तो बिन कुंवर कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर॥
गदगद सुर विरहाकुल पुलकित श्रवण विलोचन नीर।
क्वासि क्वासि वृषभाननंदिनी विलपत विपन अधीर॥
बंसी बिसिखि व्याल मालावलि पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत साखामृग रिपु चीर॥
'हित हरिवंस' परम कोमल चित सपदि चली पिय तीर।
सुनि भयभीत व्रज को पिंजर सुरत सूर रनवीर॥

गदाधर भट्ट—ये दक्षिण के ब्राह्मण थे। इनके जीवन के वारे में हम विशेष नहीं जानते। एक बात प्रसिद्ध है कि चैतन्य महाप्रभु इनसे भागवत सुना करते थे। बाद में ये उन्हीं के शिष्य हो गए। 'भक्तमाल' में भी इनका नाम आता है। इनकी रचना में भक्ति की तन्मयता मिलती है ये संस्कृत में पारंगत थे अतः इनकी भाषा संस्कृत गर्भित है। कुछ पंक्तियां उदाहरण स्वरूप उद्धृत की जाती हैं—

झूलति नारि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी रे झुलावति, गावति गीत रसाल॥
फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान छवि प्रकट भई तिहि काल॥

सिलसिलात अति प्रिया सीस तें लटकनि बेनी माल।
जनु पिय-मुकुट-बरहि-भ्रम बस तहँ ब्याल विकल बिहाल॥ इत्यादि

मीराँबाई—इनका जन्म सं० १५७३ में चोंकड़ी नामक गाँव में हुआ था। ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री और उदयपुर के महाराज भोजराज की रानी थीं। आरंभ से ही इनके मन में ईश्वर प्रेम था। विवाह के कुछ समय पश्चात् ही ये विधवा हो गईं। सांसारिक जीवन का एकमात्र सहारा उठ जाने से इनकी भगवत भक्ति की प्रवृत्तियाँ अधिक वेग से जागृत हो गईं और ये मन्दिरों में कृष्ण की मूर्ति के सामने नृत्य करके और गा के अपने भगवान कृष्ण की भक्ति में लीन रहने लगीं। घरवालों को मीरा का लोक और कुलमर्यादा को इस प्रकार तिलांजलि देना अच्छा न लगा। कहा जाता है कि घर वालों ने कई बार इन्हें विष देकर मारने तक की चेष्टा की पर भगवान की कृपा से मीरा का बाल बाँका न हुआ। अंत में घबरा कर मीरा ने घर छोड़ दिया और द्वारका तथा वृन्दावन के मन्दिरों में भजन गाकर अपना समय व्यतीत करने लगीं। भक्त मंडली और साधारण लोगों में इनका देवी के समान आदर होता था। ऐसा कहा जाता है कि मीरा और तुलसीदास का कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ था। पत्र में मीरा ने अपने साथ होने वाले दुर्व्यवहार और भक्ति में विघ्न का जिक्र किया था। तब तुलसीदासजी ने यह पद लिख कर भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥ इत्यादि

किंतु १६०३ में मीरा की मृत्यु द्वारका में हो चुकी थी अतः यह घटना कल्पना की उपज ही जान पड़ती है।

मीरा ने माधुर्य भाव से कृष्ण की उपासना की थी। इसका यह अर्थ है कि कृष्ण को ये पति के रूप में देखती थीं। इनमें और सूफी उपासना

में काफी समानता है। अतः इसे सूफी प्रभाव भी कहा जा सकता है। मीरा का नाम भारत के प्रसिद्ध भक्तों में गिना जाता है। ये स्त्री-पुरुष सब के सामने बिना किसी की पर्वाह किए कृष्ण की मूर्ति के सामने नाचा और गाया करती थीं क्योंकि लज्जा करने की आवश्यकता तो इन्हें केवल अपने प्रिय पति और उपास्यदेव कृष्ण के सामने ही हो सकती थी। इनके सम-कालीन तथा उत्तरकालीन सभी भक्तों ने श्रद्धापूर्वक इनका नाम लिया है जहाँ तक इनके गीतों की रस माधुरी का संबंध है वह हिन्दी गीति काव्य में निरुपम है। मीरा के प्रेम में मानवीय परिपूर्ति की आकांक्षा होते हुए भी ऐन्द्रिकता नहीं है। सामाजिक आलोचना, लोकोपवाद और बदनामी के सामने वह कभी कुंठित नहीं हुई। इसीलिए मीरा की व्यथा उस प्रकार की सोची हुई—समझी हुई और पहले से सुनिश्चित नहीं लगती जैसी मतवादी वेदनावादियों की वेदना। वियोग, मिलन, विनय, वन्दना, लीला, आत्म परिचय, त्योहार वर्णन, उपालंभ, प्रीति निवेदन, जोगिनी रूप में निवेदन, राम को संबोधन, सतगुरु प्रशंसा सब मीरा ने अपने स्वरों में गाया है।

इनके कुछ पदों में तो राजस्थानी मिश्रित भाषा मिलती है पर अन्य पदों में शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा। इनकी कविता की विशेषता है इनकी प्रेम तल्लीनता जिसकी छाप इनकी एक एक पंक्ति पर दिखाई पड़ती है। भारतवर्ष में मीरा के पद आज घर-घर गाये जाते हैं। इनके लिखे ग्रंथों के नाम ये हैं—नरसी जी का मायरा, गीत गोविंद टीका, राग गोविन्द और राग सोरठ के पद। उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है:—

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय॥
गगन मंडल ँ सेज पिया की, किस विध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाने, की जिन लाई होय॥
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय।

दरद की मारी बन बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोय ॥
'मीरा' की प्रभु पीर मिटेगी, जब बैद संवलिया होय ।

स्वामी हरिदास—ये अकबर के समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ और तानसेन के गुरु थे। अपने समय के प्रसिद्ध भक्तों में इनकी गिनती थी। इनके जन्म के संबंध में कुछ विशेष नहीं मालूम। इनका कविताकाल सं० १६०० से १६१७ तक है। इन्होंने टट्टी सम्प्रदाय को स्थापित किया जो निंबार्क मत की शाखा कही जा सकती है। ऐसा कहा जाता है कि एक बार अकबर छद्मवेष में तानसेन के साथ इनके घर गया। तानसेन ने हरिदास के समक्ष गाते समय जान बूझ कर गलती कर दी जिससे हरिदास को उस भूल को सुधारना पड़ा। इस युक्ति से अकबर ने इनका गाना सुना।

सहचरिसरनदास इनकी शिष्य-परंपरा में से थे। उन्होंने हरिदास को सनाढय ब्राह्मण लिखा है। इनके पदों में ब्रजभाषा के अन्य कवियों की रचना की भाँति कोमलता और सरसता कम है। किंतु भाव बहुत ऊँचे हैं। कहीं कहीं तो पदों में ऊबड़-खावड़पन मालूम होता है। इनके पद ऊँची राग-रागिनियों में गाने के उपयुक्त हैं।

सूरदास मदनमोहन—ये गौड़ीय संप्रदायके वैष्णव तथा अकबर के समय में संडीले के अमीन पद पर काम करते थे। इनके बारे में एक कथा प्रसिद्ध है। ये साधु सेवा के बड़े प्रेमी थे। एक समय मालगुजारी का बहुत सा पैसा सरकारी खजाने में दाखिल करने के लिए इनके पास आया। सरकारी पैसों से इन्होंने खूब भंडारा किया और साधुओं को खूब जिमाया। संदूकों में पैसे के स्थान पर कंकड़ पत्थर भर दिये और चुपचाप निकल गये। अकबर ने जब यह किस्सा सुना तो इन्हें बुलाया और माफ कर दिया। किंतु फिर ये नौकरी के झमेले में नहीं पड़े। वृन्दावन में ही रहने लगे। ये बड़ी सरस कविता करते थे। इनके अनेक पद तो सूरसागर में मिल गए हैं। उदाहरणार्थ एक पद देखिये—

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया॥
करत विनोद तरनि-तनया तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया॥
उपमा को घन दामिनि नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया।
सूरमदन मोहन बलि जोरी नंदनंदन वृषभानु दुलरिया॥

श्री भट्ट—इनका जन्म सं० १५९५ के लगभग हुआ था। ये केशव काश्मीरी के शिष्य थे और निंबार्क मत के मशहूर विद्वान थे। इनकी कविता साधारण है और चलती भाषा में लिखी गई है। 'युगल शतक' नामक इनका एक ग्रंथ है जिसमें १०० पदों का संग्रह है। कृष्ण भक्तों में इस संग्रह का बहुत आदर है। ये अपने पदों को बड़ी तन्मयता से गाते थे। एक पद देखिये:—

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामा जू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना॥
स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्री भट उमड़ि घटा चहुँ दिसि से घिर आई जल-सेना॥

व्यास जी—ये ओरछा के रहनेवाले थे। पहले ये गौड़ संप्रदाय के वैष्णव थे किंतु बाद में राधावल्लभी संप्रदाय में शामिल हो गये थे। जाति के ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और ओरछा के राजा मधुकरसाह के गुरु थे। हितहरिवंश के शिष्य होकर राधावल्लभी होने के पहले ये बड़े तार्किक स्वभाव के थे। तर्क के डंडे से सदा दूसरे पंडितों को पीटने को तैयार रहते थे। एक बार वृन्दावन में हितहरिवंश को इन्होंने चुनौती देने पर गोसाईं जी ने नम्रतापूर्वक उत्तर में यह पद कहा—

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायो।
जहँ तहँ बिपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गायो॥

इस पद के सुनते ही व्यास का तर्क-हिम तत्काल पिघल गया और ये गोसाईं जी से दीक्षित होकर राधावल्लभी हो गये। पीछे ओरछा नरेश ने इन्हें साथ ले जाने का प्रयत्न किया किंतु वे असफल रहे।

अन्य अधिकांश कृष्णभक्तों की अपेक्षा इन्होंने अधिक लिखा है और इनकी रचना में विषयों की वहुलता भी पाई जाती है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों पर इन्होंने लिखा है। इन्होंने एक रासपंचाध्यायी की भी रचना की है। इनके एक पद की कुछ पँक्तियाँ देखिये—

आज कछु कुंजन में वरषा सी।
वादल दल में देखि सखी री! चमकति है चपला सी॥
नान्हीं-नान्हीं बूँदन कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी।
मंद मंद गरजति सी सुनियत, नाचति मोर-सभा सी॥ इत्यादि

रसखान—इनके संबंध में कई प्रवाद प्रचलित हैं। शायद ये उस समय के राजकुल से संवंधित हों। ये वड़े ही रसिक, आनंदी और प्रेमी जीव थे। गोस्वामी गोकुलनाथ कृत दो सौ वावन वैष्णवों की वार्ता में इनके जीवन की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे। युवावस्था में ये वड़े उच्छृंखल प्रेमासक्त थे। एकाएक इनके हृदय में कृष्ण के प्रति भक्ति उत्पन्न हुई और ये श्रीनाथ जी को ढूँढ़ते ढूँढ़ते गोकुल आए। वहाँ इनका प्रेममय हृदय तत्काल कृष्णोन्मुख हो गया, और इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ले ली। कृष्ण-प्रेम की मस्ती में इस भावुक कवि के मुँह से जो भक्ति के कवित्त-सवैये निकले उनका व्रजभाषा काव्य साहित्य में अपना स्थान है। कालांतर में रसखान शब्द स्वयं कवित्त-सवैया का पर्यायवाची हो गया। इनकी कविता अत्यन्त अप्रयत्न-सावित और सरस हुई है। शब्दों से खिलवाड़ उसमें नहीं [illegible]। चलती हुई व्रजभाषा की सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओं

ही बनती है। वह अनुपम है। इन्होंने लिखा तो कम है किंतु जो कुछ लिखा है वह हृदयस्पर्शी है। 'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान-रसखान' नामक इनके दो ग्रंथ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने ज्यादातर कवित्त-सवैयों का ही उपयोग किया है। इनका एक रसीला सवैया देखिये--

आयो हुतो नियरे रसखानि कहा कहूं तू न गई वहि ठैया।
या ब्रज में सिगरी बनिता सब वारति प्राननि लेत बलैया॥
कोऊ न काहू की कानि करै कुछ चेटक सो जु कर्‌यो जदुरैया।
गाइगो तान जमाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया॥

ध्रुवदास---इनके जीवन के संवंध में हमें विशेष कुछ नहीं मालूम। ये सपने में हितहरिवंश के चेले बन गये थे। इनकी रचनाओं में कवित्त, सवैये, चौपाई आदि सभी प्रयुक्त हुए हैं। इनकी रचनाओं का परिमाण वहुत अधिक है और इनकी छोटी वड़ी कुल मिला कर ४० पुस्तकें मिलती हैं। नाभा जी की प्रणाली पर इन्होंने 'भक्तनामावली' लिखी है जिसमें अपने समय तक के भक्तों के वारे में लिखा है।

अव यहाँ हम कृष्ण भक्तों की परंपरा का विवरण समाप्त करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि इसके वाद कवियों ने कृष्ण भक्ति पर कुछ कविता लिखी ही नहीं। यत्र-तत्र इस परंपरा के कवि होते ही रहे जिनका वर्णन यथास्थान किया जायगा। एक वात ध्यान में रखने की यह है कि कृष्ण-काव्य हमारे हिन्दी-साहित्य का गौरव है। कौन जाने रस की इस धारा के अभाव में भग्नहृदया भारतीय जनता का मन कितना शुष्क होता और कितना कष्ट पाता। एक विशेष वात मुझे यह लगती है कि कृष्ण काव्यधारा में---मेरा मतलव केवल भक्तिकालीन धारा से है---ऊपर से देखने में जो संभोग सुलभ ऐन्द्रिकता लगती है वह अपने प्रभाव में सूक्ष्म अतल-प्रवाहिनी रागात्मकता का रूप ले लेती है। व्यक्ति का विलास तत्त्व के प्रकाश में परिणत हो जाता है। इस काव्यधारा में प्रेम के देवता

की अनोखी सर्वव्यापकता है। कृष्ण काव्य में हम एक शोधक प्रभाव पाते हैं जिससे आन्तरिक ठहराव और प्रवृत्तियों का माँगलीकरण होता है। पौराणिक-ऐतिहासिक कृष्ण भगवान के—ईश्वरता के ऊँचे सिंहासन से उतर कर जन जन के साथ अत्यन्त निकट का मानवीय संबंध स्थापित कर लेते हैं। स्वयं भगवान् अपने पारलौकिक अस्तित्व को समाप्त कर प्रेम की परिपूर्णता और रसनिष्ठा के प्रतीक बन गए हैं।

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएं

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतीय चिंताधारा का जो स्वरूप साहित्य-क्षेत्र में भक्तिधारा के रूप में प्रकट हुआ उसे पूर्णतः मुस्लिम आक्रमण और शासन का परिणाम नहीं कहा जा सकता। तुलसी के मर्यादापुरुषोत्तम राम और सूर के प्रेम-मूर्त्ति कृष्ण अकबर द्वारा स्थापित सुख और शांति के फल नहीं थे। इसके साथ साथ यह भी सच है कि अकबर के समान योग्य और गुणग्राही राजा का आश्रय पाकर हिन्दी-साहित्य के कुछ अंगों को काफी प्रोत्साहन मिला और इसके परिणाम स्वरूप एक नये ही प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो गया। इस नवोद्भूत साहित्य की कोई निश्चित रूपरेखा न थी। शायद यह साहित्य की कुछ दबी प्रवृत्तियों का उत्थान था।

मुसलमान शासक कट्टर थे अतः भारतीय सँस्कृति उन्हें विशेष रूप से प्रभावित न कर सकी। किंतु अकबर की उदारता ने दोनों भुजाओं से भारतीय संस्कृति को अंक में समेटने की कोशिश की। एक बार फिर कला और साहित्य के क्षेत्र में उत्साह की लहर दौड़ने लगी। अकबर का नवरत्न दरबार मशहूर ही है। छोटे मोटे राजाओं के यहाँ कविता सुना कर अपना निर्वाह करने वाले कवि अब शाही दरबार में बुलाये जाने लगे। स्वयं अकबर ने भी ब्रजभाषा में कुछ कविता करने की कोशिश की।

इस अनुकूल वातावरण ने हिंदी साहित्य को निश्चित आगे बढ़ाया। वीर, शृंगार और नीति की कविताओं का जोर फिर होने लगा। ध्यान में रखने की बात है कि इस काल में भी हिन्दी-नाटक-क्षेत्र में कोई विशेष

उन्नति नहीं हुई। अब इस धारा के कुछ प्रमुख कवियों का हम संक्षिप्त विवरण देते हैं। एक और बात ध्यान में रखने की है। इस सुख और शांति के काल में यह स्वाभाविक था कि साहित्यकार कलापक्ष की ओर ध्यान देते। लक्षण-ग्रंथ काफी संख्या में लिखे गये और अलंकार तथा रसनिरूपण में कवियों ने काफी दिलचस्पी दिखाई। इस प्रकार आने वाले रीति-काल की भूमिका इस समय तैयार होने लगी। राजा महाराजा या मध्यवर्ग के पंडित, वैश्य, क्षत्रिय या कायस्थ समाज का जीवन निश्चित परिपाटी में बँध गया था। फलस्वरूप काव्य भी परिपाटियों और रीतियों में बँधने लगा। कवियों का ध्यान भक्ति, नीति और आचार की ओर तो रहा ही अब वह लौकिक प्रेम के विविध रूपों को भी सामने रखने लगा। पौराणिकों और सगुण वैष्णव भक्तों के कारण संतत्व को जो प्रगतिशील शक्तियाँ आई थीं वे अब दबने लगीं और मुगलों के विलास-वैभव से चमत्कृत सामन्त और जनता शृंगार समन्वित कृष्ण-भक्ति की ओर झुकी।

नरोत्तमदास—इनका जन्म सीतापुर जिले के बाड़ी कसबे में हुआ था। इनकी जाति आदि का पता नहीं चलता। शिवसिंह सरोज के अनुसार ये सं० १६०२ में मौजूद थे। इनका नाम इनके छोटे से खण्ड-काव्य सुदामा चरित के कारण प्रसिद्ध हो गया है। जान पड़ता है ये अच्छे कवि थे। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके वर्णन इतने अच्छे होते हैं कि एक दम हृदय पर प्रभाव डालते हैं। ये हृदय के भावुक थे। भाषा बहुत ही मँजी हुई है। भरती का मसाला इसमें नहीं पाया जाता। कहते हैं कि इन्होंने ध्रुव चरित नामक एक और खंड काव्य लिखा है किंतु वह नहीं मिलता। उदाहरणार्थ एक सवैया दिया जाता है जिसमें कृष्ण की करुणा और शरणागत-वत्सलता बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित की गई है—

कैसे विहाल बिवाइन सों भए, कंटक जाल पड़े पग जोए।
हाय महादुख पाए सखा, तुम आए इतै न, कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहीं, नैनन के जल सों पग धोए॥

गंग भट्ट—ये अकवर के दरबारी कवि थे और अपने समय में इनकी अच्छी ख्याति और प्रभाव था। इनका जन्म अथवा मृत्यु-संवत् हमें नहीं मालूम। रहीम इनकी वहुत इज्जत करते थे। इन्होंने शृंगार और वीर रस की वहुत अच्छी और प्रभावपूर्ण कविता की है। गोसाईं चरित में लिखा है कि ये एक हाथी के द्वारा मरवा डाले गये थे। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि ये वड़े निर्भीक और स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। भिखारीदास की यह पंक्ति इनके संवंध में प्रसिद्ध है—

'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार'

हमें गंग की कोई पूरी कृति नहीं मिलती। जो कुछ फुटकल पद मिलते हैं उनके आधार पर इतना निश्चित कहा जा सकता है कि ये शृंगार और वीर रस के उत्तम कवि थे। अलंकार प्रचुर रूप से प्रयुक्त किये गए हैं। एक उदाहरण दिया जाता है—

वैठी थी सखिन संग पिय को गवन सुन्यो
सुख के समूह में वियोग आग भर की।
गंग कहै त्रिविध सुगन्ध लै पवन वह्यो
लागत ही ताके तन भई विया जर की॥
प्यारी को परस पौन गयो मानसर पहँ
लागत ही औरे गति भई मानसर की।
जलचर जरे और सेवार जरि छार भयो
जल जरि गयो पंक सूख्यो भूमि दर की॥

बलभद्र मिश्र—ये महाकवि केशव के अग्रज और ओरछा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६०८ के लगभग हुआ था। 'नखसिख' नामक इनकी एक पुस्तक मिली है जिसको पढ़ कर जान पड़ता है कि काव्य और अलंकार शास्त्रों में ये पारंगत थे। इनकी पुस्तक की रचना कुछ कुछ आचार्यत्व के ढंग पर हुई है। गोपाल कवि द्वारा रचित 'नखशिख' की टीका में मिश्र जी के अन्य ग्रन्थों का उल्लेख है किन्तु वे हमें नहीं मिलते। इनकी गणना रीति काल के कवियों में की जाती है।

केशव दास—इनके जन्म और मृत्यु संवत १६१२ और १६७४ हैं। संस्कृत में पांडित्य इनके घराने की विशेषता थी। केशव ओरछा नरेश के भाई इंद्रजीत सिंह की सभा में रहते थे। वहाँ इनकी बहुत इज्जत थी। इस वातावरण में पल कर एक अच्छा साहित्य-शास्त्री हो जाना केशव के लिए स्वाभाविक था। यों तो केशव के पहले ही से रस अलंकार आदि काव्यांगों पर पुस्तकें लिखी जाने लगी थीं किंतु विशुद्ध शास्त्रीय पद्धति से साहित्य-निरूपण का सिलसिलेवार काम इन्होंने शुरू किया। इन्हें हम हिन्दी में चमत्कारवाद और रचना कौशल का सब से बड़ा कवि मान सकते हैं। इन्होंने रस की अपेक्षा अलंकार को श्रेष्ठ मान कर उसे ही काव्य की आत्मा माना है। छन्दों की विविधता, वाग्वैदग्ध का प्रदर्शन और उक्ति निपुणता इनमें कूट कूट कर भरी है। कहीं कहीं चमत्कार के लोभ में इनकी कल्पनाएँ बड़ी अनर्गल हो गयी हैं। पर जहाँ इनमें हृदय की वास्तविक प्रेरणा मिलती है वहाँ उच्च कोटि का काव्यत्व भी पाया जाता है। कठिनता और अर्थदुरूहता का जैसे इन्हें व्यसन था।

केशव ने रसिक-प्रिया और कवि-प्रिया नामक उत्कृष्ट काव्य ग्रंथों की रचना करके उनमें रस, अलंकार आदि का विस्तृत रूप से निरूपण

किया। सं० १६५८ में इन्होंने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' की रचना की। इस काव्य में इनके पांडित्य का सर्वोत्तम प्रदर्शन हुआ है। प्रबंध काव्य की दृष्टि से 'रामचंद्रिका' रामायण के समकक्ष नहीं पहुँचती किन्तु काव्य-कला और नाटकीय संवादों की दृष्टि से निस्सन्देह वह एक उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। काव्यमर्मज्ञ ही उसका पूर्ण रसास्वादन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने विज्ञान-गीता, वीरसिंह-देव चरित्र, रतन बावनी और जहाँगीर-जस-चंद्रिका भी लिखी है।

केशव की कविता बड़ी दुर्बोध है। इन्हें कठिन काव्य का प्रेत कहा गया है। इन्होंने रस, अलंकार, छंदादि का एक विशेष शैली से पूर्ण निरूपण किया है। अतः इन्हें यदि रीतिकाल के प्रवर्त्तक और प्रथम आचार्य मानें तो कुछ अनुचित न होगा। एक छंद देखिये—

विधि के समान हैं विमानी कृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है।
दीपति दिपति अति सातौ दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है।
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय कैधों सूरज अमल है।
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथ-पथ-गामी गंगा कैसो जल है।

सेनापति—ये अनूपशहर जिला बुलन्दशहर के रहने वाले कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्मकाल संवत् १६४६ के आस पास माना जाता है। मृत्युकाल का ठीक पता नहीं चलता। ये बड़े सहृदय कवि थे। इनकी कविता में स्वाभाविकता और चमत्कार दोनों मिलते हैं। इनकी निरीक्षण-शक्ति सूक्ष्म और पदावली लालित्यपूर्ण है। प्रकृति का इनका अवलोकन मौलिक और परंपरा से अलग है। किसी

अन्य शृंगारी कवि का प्रकृति वर्णन ऐसा सौष्ठवपूर्ण नहीं है। इनकी भावुकता की प्रशंसा समस्त इतिहासकारों ने की है। इन्होंने काव्य कल्पद्रुम और कवित्त रत्नाकर नामक दो ग्रन्थ रचे थे। रचना में प्रांजलता और प्रौढ़ता है; एक सच्चे और विदग्ध कवि की भावुकता इनमें है। ये एक प्रकार से भक्ति काल के अंतिम कवि थे जिन्होंने रीति काल की परम्परा को भी बल दिया। सेनापति कृष्ण की उपासना न कर राम की उपासना करते थ। एक उदाहरण देखिये :—

कातिक की राति, थोरी थोरी सियराति
सेनापति को सुहानि सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन वन
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चन्द चाँदनी छिटकि रही
राम कैसो जस अघउ ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहुँ जगत छीर सागर मगन हैं।

रहीम—इनका जन्म-संवत् १६१० है। ये इतिहासप्रसिद्ध सरदार वैरम खाँ के पुत्र थे। अपनी दानशीलता के कारण लोग कर्ण से इनकी तुलना किया करते थे। ये अरवी, फारसी, और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और हिन्दी-काव्य की भी इनकी अच्छी जानकारी थी। इन्होंने अपने समय के अनेक बड़े बड़े युद्धों में भाग लिया।

एक वार जहाँगीर ने किसी अपराध पर इनको कैद कर कारावास का दंड दिया और इनकी सव संपत्ति जब्त कर लीं। कैद से छूटने पर इनकी आर्थिक दशा वहुत खराव थी और इन्हें विवश हो अनेक याचकों को विमुख लौटाना पड़ा। इसका इन्हें सदा वड़ा दुख रहा। शायद ऐसी ही मनोदशा में इन्होंने इस दोहे की रचना की थी—

तव ही लौं जीबो भलो दैवो होय न धीम
जग में रहिबो कुँचित गति होय न उचित रहीम ॥

इनका जीवन और संसार संबंधी अनुभव बड़ा गंभीर और मार्मिक था। इनके दोहों में अनुभव का मर्म भरा रहता है और तुलसी के दोहों के समान ही ये जन साधारण की जबान पर रहते हैं। इनमें कोरे उपदेश नहीं दिये गये हैं। भुक्तभोगी की तीव्रता प्रत्येक दोहे में भरी है। रहीम का भाषा पर विशद अधिकार था। व्रज और अवधी दोनों पर एक सी सफाई से कलम चलती थी। इनका रचित 'बरवै नायिका भेद' अवधी भाषा में लिखा गया है। यों तो रहीम के दोहे ही जनसाधारण में प्रचलित हैं पर थोड़ी वहुत रचना उन्होंने दूसरे छन्दों में भी की है। इनकी मृत्यु सं० १६८३ में हुई। इनकी निम्न लिखित पुस्तकें कही जाती हैं—रहीम सतसई, बरवै नायिका भेद, श्रृंगार सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी। इन्होंने फारसी के एक दीवान की भी रचना की है। ये कई विद्यायें और भाषाएँ जानते थे। इन्होंने ज्योतिष आदि विषयों पर भी लिखा है। इनके कुछ दोहे देखिये—

दुरदिन परे रहीम कह, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं बित-हानि को, जौं न होय हित-हानि ॥
कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गए पछिताय।
संपति के सब जात हैं, विपति सबै लै जाय ॥

इसके अतिरिक्त इस परंपरा के और भी कवि हो गये हैं जिनमें कुछ प्रमुख ये हैं—कृपाराम, नरहरि, टोडरमल, और बीरवल। इस काल के छीहल (संवत् १५७५) लालदास (संवत् १५८५) मनोहर (संवत् १६२०) कादिर (संवत् १६३५) मुवारक (संवत् १६४०) बनारसीदास (संवत् १६४३) पुहकर (संवत् १६७३) सुन्दर (संवत् १६८८

विक्रमी) भी उल्लेखनीय कवि हैं। लालचंद या लक्षोदय (१६८५-१७०९) ने संवत् १७०० में पद्मिनी चरित्र नामक एक प्रबन्ध काव्य की रचना की है।

यहाँ हम भक्ति काल समाप्त करते हैं। कहना न होगा कि इस काल में ही आने वाले रीति-काल की भूमिका लिखी जाना आरंभ हो गई थी।

रीतिकाल (१७००-१९००)

उत्तर-मध्य काल

किसी भी देश अथवा भाषा के काल विशेष के साहित्य को अच्छी तरह से समझने के लिए प्रधान रूप से दो बातों की आवश्यकता है। एक तो हमें तत्कालीन ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थिति की पूरी जानकारी आवश्यक है, दूसरे हमें मुख्य लेखकों की प्रतिभा की विशेषताओं को समझना पड़ता है। जर्मन लेखक टेन (Taine) ने किसी भी काल के साहित्य को उस काल की सामाजिक स्थिति द्वारा समझाने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका सूत्र अधूरा था। वह लेखक के व्यक्तित्व और प्रतिभा को बिलकुल ही भूल गया। यह ठीक है कि तुलसी-साहित्य के प्रणयन में तत्कालीन भक्ति धारा और सामाजिक परिस्थिति का बहुत हाथ था, किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि इस कार्य के लिए तुलसी की प्रतिभा भी बहुत सीमा तक उत्तरदायी थी। अस्तु।

हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन साहित्य की सामाजिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर दृष्टिपात करने से हमें मालूम होता है कि यह बड़ी ही अव्यवस्था का युग था। मुगल-साम्राज्य के वैभव का सूर्य अस्ताचल की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा था। सारा देश युद्ध और विप्लव का आंगन बना हुआ था। राजनीतिक अधःपतन तेजी से शुरू हो गया था। औरंगजेब के बाद गिरते हुए मुगल-सम्राज्य के विशाल भवन को संभालने वाला कोई न हुआ। नादिरशाह और अब्दाली के आक्रमणों ने इस नाश और अव्यवस्था को और गति प्रदान की। सामन्तशाही जर्जर थी पर जनता को दलित किये जा रही थी। औरंगजेब की धार्मिक

असहिष्णुता से हिन्दू बहुत दुर्बल हो गये थे और मुसलमान विलास में अपनी शक्ति नष्ट कर रहे थे। औसत नागरिक की दशा असंतोष-जनक थी। कृषक-वर्ग सोने सी फसल पैदा कर के भी भूखा रहता था। यह सारा काल मुगल राज्य के क्रमिक ह्रास, हिन्दू शक्तियों के उत्थान और पतन तथा अँगरेजी शक्ति के क्रमिक विकास का इतिहास है। आये दिन के युद्धों के नीचे निष्प्राण भारतीय जनता का व्यक्तित्व पददलित हो रहा था। अराजकता का वह युग था। सारे देश में ठगों, चोरों, डाकुओं और युद्धजीवी वर्गों का बोलबाला था। समाज की आत्मा संकुचित हो गयी थी। वह आत्मनिष्ठ और रूढ़िग्रस्त था। राष्ट्र की नव चेतना का मार्ग बन्द था।

कवि और कलाकार शाही दरबार की छत्रच्छाया में सरस्वती की वीणा पर अँगुलियाँ चलाये जा रहे थे, किन्तु औरंगजेब की मृत्यु के बाद उन्हें छोटे मोटे राजा नवाबों का आश्रय लेने के लिए विवश होना पड़ा।

मुगल सल्तनत अपने विलास और वैभव के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। रीति-काव्य की दूतियां शाही हरम के लिए कुटनी का काम करने वाली स्त्रियों का ही परिवर्तित और छद्म रूप हैं। विलास और श्रृंगारिकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। वासना के प्रबल प्रवाह ने देश के संयम को एक बार ही में नष्ट कर दिया। हिन्दुओं में जाति-भेद की भावना सिर उठा रही थी। हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के आचार-विचार से प्रभावित दीखते थे। इस राजनैतिक तथा सामाजिक पतन के युग में देश की नैतिक अधोगति होना स्वाभाविक था। धर्म की पूरी दुर्दशा हो रही थी। मन्दिर और मठों में देवदासियाँ भगवान और उनके भक्त दोनों की सेवा में काम आती थीं। जातीय बुद्धि का धरातल बहुत ही नीचे आ चुका था। सारांश यह कि रीति कालीन साहित्य की श्रृंगारिकता और कला, रस अलंकार आदि के पूर्ण विकास के लिए सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितयाँ पूर्णतः अनुकूल थीं।

यहाँ हमें एक बात का स्मरण रखना चाहिए। मुगल-साम्राज्य में शिल्प कला, चित्रकला और संगीत ने अपने अपने क्षेत्र में काफी उत्कर्ष प्राप्त किया। ललित और उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं ने अभूत-पूर्व उन्नति की। कलाप्रेमी मुगल सम्राटों ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलासपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन, आदि ललित कलाओं और जवाहरात-सोने चाँदी के काम, कढ़ाई, बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का उल्लास, अलंकरण और शृंगार का रसीलापन है। सँगति के क्षेत्र में भी विराट गंभीर तत्व का अभाव और स्त्रैण शृंगारिकता का भाव परिलक्षित होता है।

अब हम रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का थोड़ा विश्ले-षण करेंगे। यों तो रीति-काल का समय १७००-१९०० तक माना जाता है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रीति काल की प्रवृत्तियाँ १७०० के काफी पहले साहित्य में लक्षित होने लगीं थीं। इसके पहले कई लेखकों ने रस अलंकार आदि पर ग्रंथों की रचना की किन्तु यह निश्चित है कि 'कवि प्रिंया' और 'रसिक प्रिया' के लेखक केशव को ही रीति काल के प्रथम आचार्य होने का गौरव मिलना चाहिए। इनके लगभग आधी शताब्दी के बाद रीति काल की रचनाओं का अखंड स्रोत बहा, पर उस स्रोत ने आचार्य केशव के मार्ग पर न चल कर एक भिन्न ही दिशा पकड़ी।

आचार्य केशव ने साहित्य निरूपण के लिए अपने सामने संस्कृत के आचार्य भामह और उद्भट का आदर्श रखा। किंतु केशव के पचास वर्ष बाद रीति-ग्रंथों की जो अखंड परंपरा चली उसके लेखकों ने आनंद-वर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा प्रदर्शित पथ को ग्रहण किया। हिंदी के अलंकार-ग्रथ ज्यादातर 'चंद्रलोक' और 'कुवलयानन्द' के

आधार पर बने। कहीं कहीं 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' का प्रभाव भी दीख पड़ता है।

संवत् १७०० के कुछ बाद चिंतामणि त्रिपाठी ने 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' तीन ग्रंथों की रचना की जिनमें उन्होंने काव्य के समस्त अंगों पर विस्तारपूर्वक लिखा। रीतिकाल का आरंभ यहीं से मानना चाहिए। इसके बाद लक्षण ग्रंथों की एक परिपाटी चल पड़ी और दो शताब्दी के अन्दर इस प्रकार के सैकड़ों ग्रंथों की रचना हुई। हिन्दी-साहित्य में एक विचित्र दृश्य देखने में आया। कवि लोग पहले रस अथवा अलंकार के लक्षण बताते, बाद में उसके स्पष्टीकरण के लिए काव्य-रचना करते थें। आचार्य और कवि के कार्य में विशेष भेद न रहा। इसके परिणाम स्वरूप आचार्यत्व का अपने सच्चे स्वरूप में विकास न हो पाया। आचार्यत्व के लिए जिस गंभीर अध्ययन और मनन की आवश्यकता थी प्रत्येक कवि में उसका होना असंभव था। इन अधिकाँश कवि आचार्यों द्वारा जो काव्यांग निरूपण हुआ वह अपूर्ण और कहीं कहीं भ्रामक रहा। केवल इनके ग्रंथों पर निर्भर रह कर साहित्य के स्वरूप को समझने की आशा दुराशा मात्र है। यद्यपि इस काल का नाम रीति-काल पड़ गया है, जिसका अर्थ है रस, अलंकार, पिंगल आदि की विशिष्ट रीति पर काव्य-रचना करना, पर हमें इस बात का सदैव स्मरण रखना चाहिए कि इस काल में साहित्य शास्त्र का कोई विशद विवेचन नहीं हो पाया। रीति कविता राजाओं और सामन्तों के आश्रय में पली है अतएव उसकी अंतःप्रेरणा और स्वरूप को कवियों और उनके आश्रयदाता दोनों के संबंध से ही समझा जा सकता है। इन लक्षण ग्रन्थों के रचयिता कवियों के आश्रयदाता छोटे पैमाने पर राज दरबार की प्रतिच्छाया थे। गुणी जनों का सरस काव्य इनके लिये विनोद और भोग के साधन से अधिक न था। इन रीति निर्माता कवियों के लिये कविता

मूलतः एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी मनोरंजन कर सकने की शक्ति का प्रदर्शन करते थे।

आचार्य वामन ने रीति शब्द का इस अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। उनके मतानुसार "विशिष्टा पद-रचना रीतिः" अर्थात् विशिष्ट पद रचना ही रीति है। वह पद-रचना दोषों से मुक्त और अलंकारों से सज्जित होनी चाहिए।

अंग्रेजी साहित्य की 'क्लेसिकल ऐज' और हिन्दी-साहित्य के रीति युग में बहुत कुछ समानता है। दोनों में ही भाषा और अलंकार छंद आदि की सफाई ही प्रधान मानी गई है। यदि काव्य का बाह्यांग सुन्दर है तो विचार और भावों के सौन्दर्य पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। काव्य के आन्तरिक पक्ष पर इस काल के लेखकों का ध्यान गया ही नहीं। काव्य का कला पक्ष ही कवियों का साध्य था।

रीति-काल के अधिकाँश कवियों की लक्षण रचना संस्कृत की पुस्तकों पर आधारित है और उनमें सब को आचार्यत्व का माद्दा न होने के कारण उनके लक्षण कहीं कहीं अधूरे भी हैं। भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में काव्यांगों का सांगोपांग विवेचन किया है। उन्होंने एक सब से बड़ा महत्व का काम यह किया कि अपने ग्रंथ में हिन्दी कविता की तुक अथवा अंत्यानुप्रास का भी समावेश किया। संस्कृत कविता में तुक नहीं होती। दास हिंदी के प्रथम रीति कवि थे जिनका ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर गया।

इसमें संदेह नहीं है कि इस काल के लक्षण ग्रंथ लेखक सच्चे अर्थ में कवि थे। उनका हृदय बड़ा ही भावुक था। दिखावे के लिए अथवा परंपरा पालन के लिए भले ही उन्होंने आचार्यत्व की पगड़ी समय समय पर अपने सिर पर रख ली हो, किंतु उनका असल उद्देश्य था अपने हृदय के उमड़ते हुए भावों को पद्यबद्ध करना। हिन्दी-साहित्य को इससे एक

बड़ा भारी लाभ यह हुआ कि उसमें रसों और अलंकारों के इतने अधिक और इतने सुन्दर उदाहरण लिखे गये कि वे संस्कृत साहित्य के तत्संबंधी उदाहरणों के भी आगे निकल गये। रसों में शृंगार रस पर ही सब से अधिक लिखा गया और अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद तथा नखशिख वर्णन ने कवियों के चित्त को अधिक आकर्षित किया। काव्य में कला का स्वतन्त्र महत्व माना गया और उसकी साधना उसी के निमित्त होने लगी। इन कवियों की भावुकता और शृंगारिकता का स्वरूप भी बड़ा स्वस्थ है। कवियों में किसी प्रकार की घुमड़न या मानसिक छलना नहीं है। उनके काव्य में कहीं अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं। पर इसका परिणाम यह हुआ कि इन कवियों की जीवन वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से वंचित रहीं।

जहाँ एक ओर हिन्दी-साहित्य के अग विशेष का इतना चतुर्मुखी विकास हुआ वहाँ उसके अन्य अंगों के विकास में बाधा पड़ना अनिवार्य था। साहित्य की धारा अपने मुक्त रूप में न बह सकी। प्रकृति और मानव जीवन के अन्य सुन्दर आकर्षक तथा चित्य पार्श्वों की ओर से इस युग के साहित्य-सृष्टा उदासीन ही रहे। इस काल के ग्रंथों का अध्ययन करने से ऐसा जान पड़ता है मानों इन कवियों के लिए समस्त संसार और जीवन केवल नायिका और उसके नखशिख में ही सीमित हो गया है। जैसा कि कहा जा चुका है मुगल साम्राज्य भौतिक वैभव और विलास के उत्कर्ष तथा अपकर्ष की एक अत्यन्त मानवीय कथा है। उस युग में विलास का जो प्रखर नद उमड़ पड़ा था, साहित्य में उसका प्रतिविंवित होना अत्यन्त स्वाभाविक था। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति भी एक सीमित दायरे में घूमने लगी। कवियों के व्यक्तित्व में भेद करना कठिन हो गया क्योंकि सब का ध्यान काव्य के वाह्यांग पर था जो एक निश्चित प्रणाली पर रचा जाता था। रचनाओं में कवियों के अंतर

की झलक पकड़ना बड़ा कठिन हो गया। किंतु यह स्वीकार करना पड़ता है कि श्रृंगार की मुक्तक रचना की जो रमणीय झांकी रीतिकाल में सजाई गई वह अन्यत्र दुर्लभ है*।

रीतिकाल में सैकड़ों कवियों ने अपनी कविता में एक ही भाषा का उपयोग किया है। इसके बावजूद भाषा में व्याकरण की व्यवस्था का अभाव ही रहा। वाक्य-रचना में भी दोष पाये जाते हैं। भूषण वीर रस की तो सुन्दर कविता करते थे किंतु भाषा उनकी भी बिलकुल दोष-रहित नहीं है। शब्दों का रूप स्थिर नहीं हो सका और तुक तथा लय की खातिर उन्हें मनमानी ढंग से कवि लोग तोड़ मरोड़ भी लेते थे। इन सब बातों के परिणाम स्वरूप भाषा को कोई एक निश्चित स्थिर रूप प्राप्त न हो सका।

कवि ब्रज और अवधी का मनमाना मिश्रण अपनी कविता में करते थे। यह एक सामान्य सिद्धांत है कि जब एक भाषा साहित्यिक हो जाती है तब वह एक प्रदेश विशेष के शब्दों और उपयोगों तक ही सीमित नहीं रहती। अन्य प्रदेशों के शब्द और मुहावरे भी उस में कालांतर में मिल जाते हैं। यही बात ब्रजभाषा के संबंध में भी हुई। सूरदास तक की

---

*डा० नगेन्द्र के शब्दों में जहाँ तक रूप अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का संबंध था इन नयनों की प्यास अमिट थी। एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवियों की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व में ऐन्द्रिक आनन्द का पान कर उत्सव मानने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रंग विद्यापति को छोड़ प्राचीन साहित्य में दुर्लभ है।

भाषा में मोर, हमार सरीखे पूर्वी शब्द मिलते हैं। दास जी ने अपने 'काव्य-निर्णय' में इस मिश्रित भाषा का समर्थन किया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा बिबिध प्रकार॥

दास जी ने परंपरागत हिन्दी-साहित्य पर बहुत ही गंभीर रूप से मनन किया था और उन्होंने ब्रजभाषा को ही काव्य-भाषा कहा है। रीति-काल के साहित्य ने मुगल-साम्राज्य को उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचते देखा था। अतः स्वभाविक है कि फारसी के शब्द काफी संख्या में हिन्दी काव्य भाषा में उपयुक्त होने लगे।

रीति-काल के कवियों ने अपनी कविता अधिकतर कवित्त और सवैयों में ही लिखी है। कवित्त शृंगार के लिए अत्यन्त ही उपयुक्त छंद है। इस काल में शृंगार और वीर रस विशेष कर शृंगार की कविता प्रधान रूप से हुई है। अतः रीति काल बिना किसी अड़चन के शृंगार-काल का पर्याय कहा जा सकता है। जैसा कि स्वाभाविक है यह शृंगार कहीं कहीं शिष्टता की सीमा पार कर अश्लीलता के पंक में भी गिर गया है। किंतु इसके लिए उस समय का विलासी समाज जिम्मेदार है।

रीतिकाल के बारे में मुख्य मुख्य बातें ऊपर लिखी जा चुकी हैं। अब हम नीचे इस काल के प्रमुख कवियों का संक्षिप्त विवरण देते हैं। पाठक देखेंगे कि इन कवियों के प्रतीक और उपमान प्रायः विलास से सम्बद्ध हैं। प्रकृति के क्षेत्र में रति के उद्दीपन उनके पास हैं—भौतिक जीवन में नागरिक विलास की वस्तुओं से ये आगे नहीं गये। वही उनके प्रिय उपकरण रहे। साथ ही भौतिक रस की उपासना करते हुए भी इन कवियों में इतना नैतिक बल नहीं था कि अपने विलास जर्जर मन से ये भक्ति रस

में अनास्था प्रकट करते। दृष्टिकोण में विस्तार और गाँभीर्य का अभाव है। लगता है कवियों की मौलिक सृजन क्षमता नष्ट हो चुकी थी—केवल रीतियों की दासता रह गई थी। धर्म भी इस युग में आकर धर्माभास मात्र रह गया था। उसका स्वस्थ और नैतिक रूप नष्ट हो चुका था। भक्ति उनके लिये एक मनोवैज्ञानिक कवच मात्र रह गई थी। जीवन में वासना, रसिकता और काम की अधिकता में उनके धर्म-भीरु मन को राधाकृष्ण का नाम किसी प्रकार आश्वासन देता रहा होगा। रीतिकाल की हिन्दी कविता को जनता का साहित्य नहीं कहा जा सकता। उसमें कृत्रिम भावना और अतिशयोक्ति की बहुलता है। ये अतिशयोक्तियाँ भी जायसी की अतिशयोक्तियों की भाँति प्रेम के रस और पीर में डूबी नहीं है। उसकी प्रेरणा का स्रोत जनसाधारण के जीवन से नहीं उद्भूत हुआ था। यही कारण है कि उसका इतना व्यापक प्रभाव लोक-जीवन पर न पड़ सका जितना सन्तकाव्य का पड़ा।

चिंतामणि त्रिपाठी—ये वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण के अग्रज थे। इनका जन्म सं० १६६६ के आसपास माना जाता है। शिवसिंह सरोज के अनुसार ये काफी समय तक नागपुर के भोसला मकरंदशाह के यहाँ रहे और वहाँ छंदशास्त्र पर 'छंद विचार' नामक एक वृहत् ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त ये पुस्तकें भी इन्होंने लिखी हैं—काव्य विवेक, कवि-कुल कल्प-तरु, काव्य प्रकाश और रामायण। रामायण कवित्त आदि छंदों में लिखा गई है और बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है।

इन्होंने बड़ी ही शुद्ध और सरस ब्रज भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर विस्तारपूर्वक लिखा है, तथापि

इसमें संदेह नहीं कि ये एक ऊँचे दर्जे के कवि थे। इनके वर्णन बड़े ही सरस और सुन्दर हुए हैं। एक उदाहरण दिया जाता है—

सरद ते जल की ज्यों दिन तें कमल की
ज्यों घन तें ज्यों थल की निपट सरसाई है
घन तें सावन की ज्यों आप तें रतन की
ज्यों गुनत सुजन की ज्यों परम सुहाई है ॥
चिंतामनि कहै आछे अच्छरन छन्द की
ज्यों, निसागम चन्द की ज्यों ृग सुखदाई है ॥
नग तें ज्यों कंचन बसन्त तें ज्यों बन की,
यों जोबन तें तन की निकाई अधिकाई है ॥

अथवा—

चोखी चरचा ज्ञान की, आछी मन की जीति।
संगति सज्जन की भली, नीकी हरि की प्रीति ॥

इनकी भाव प्रतिपादन और विषय वर्णन की शैली मार्मिक है। उसमें एक सहज आकर्षक है।

* **बेनी**—यों तो बेनी नाम के एक से अधिक कवि हो गए हैं, पर यहाँ हमारा अभिप्राय असनी के वन्दीजन से है। सं० १७०० के आसपास इनका होना पाया जाता है। वैसे तो इनके फुटकल पद्य ही इधर उधर सुनाई पड़ते हैं, पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन्होंने भी नायिका भेदादि व षट्ऋतु पर कुछ पुस्तकें लिखी होंगी। इनकी कविता

---

* कविता-कौमुदीकार पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार बेनी के नाम पर चलने वाली हास्यरस की या दिल्लगी की कवितायें इन्हीं की बनाई हुई हैं।

साधारण कोटि की है। पर इनकी भाषा चलती हुई और अनुप्रास से अलंकृत होती थी। एक उदाहरण देखिये—

> **छहरै सिर छबि मोर पखा उनकी नथ के मुकता थहरैं**
> **फहरै पियरो पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं**
> **रसरंग भिरे अभिरे हैं तमाल दोउ रस ख्याल चहैं लहरैं**
> **नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं**

महाराज जसवंतसिंह—ये मारवाड़ के प्रसिद्ध प्रतापी हिन्दू राजा थे और शाहजहाँ तथा औरंगजेब ने इन्हें अनेक युद्धों में भेजा था। इतिहास के पाठकों से ये कथाएँ छिपी नहीं हैं। ये महाराज गजसिंह के पुत्र थे और इनका जन्म सं० १६८३ में हुआ था। ये कविता के बड़े प्रेमी और उसके मर्म को समझने वाले थे। यही कारण है कि रीति युग के इने गिने आचार्यों में इनकी गणना होती है। एक अच्छे साहित्यकार होने के अतिरिक्त ये अत्यन्त ज्ञानी पुरुष थे। राजा विद्याप्रेमी थे अतः स्वाभाविक था कि इनके शासनकाल में साहित्यकारों और कवियों को खूब प्रोत्साहन मिला।

महाराज जसवंत सिंह ने हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में एक आचार्य के पद से प्रवेश किया, और उन्होंने कार्य भी आचार्य का ही किया। अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'भाषा-भूषण' इन्होंने संस्कृत के 'चंद्रालोक' को आदर्श मान कर लिखा। एक पद्य में ही लक्षण और उदाहरण दोनों का समावेश कर दिया गया है। इससे अलंकार प्रेमियों ने इस ग्रंथ को गले का हार बना रखा है। 'भाषा-भूषण' के अतिरिक्त इन्होंने और भी ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें से मुख्य ये हैं—प्रबोध चंद्रोदय नाटक, अनुभव-प्रकाश, सिद्धान्त सार, आनंद-विलास, सिद्धान्त बोध, अपरोक्ष सिद्धान्त। ये सब ग्रन्थ पद्य में हैं।

भाषा-भूषण का दोहा देखिये—

ने जो सात सौ दोहे लिखे वे संगृहीत होकर 'बिहारी सतसई' के नाम से हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध हुए।

श्रृंगार के क्षेत्र में 'बिहारी-सतसई' एक अनुपम ग्रंथ माना जाता है और यह ग्रंथ इतना लोकप्रिय और प्रसिद्ध हुआ कि इस पर दर्जनों टीकाएँ लिखी गईं। इनमें सब से अधिक प्रामाणिक स्व० बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की टीका 'बिहारी-रत्नाकर' मानी जाती है।

बिहारी की लिखी और कोई पुस्तक नहीं मिलती। किंतु उनकी सतसई ही उन्हें अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। मुक्तक छंद दोहे को अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचाने के कारण स्व० शुक्लजी ने बिहारी की भूरि भूरि प्रशंसा की है। प्रबन्ध तो संपूर्ण मानव जीवन को लेकर चलता है, किंतु मुक्तक में तो केवल जीवन के किसी एक मनोरम पार्श्व की लुभावनी झाँकी की झलक ही संभव है जिसे पाकर नेत्र सफल हो जाते हैं। बिहारी ने दोहे नहीं लिखे, रस की छोटी-छोटी गागरों की सृष्टि की है और इन गागरों में रस का सागर भर दिया है। इनकी उक्ति में वैचित्र्य और मधुरता का सुन्दर मिश्रण मिलता है। इनकी कल्पना बड़ी ही चित्रविधायिनी थी और दोहों में वर्ण्य विषय का चित्र खड़ा कर देती थी। अनुभाव और हावों का सुन्दर वर्णन किया गया है। प्रत्येक दोहे में भाव, रस और अलंकार झलके पड़ते हैं।

इतना अवश्य कहना पड़ता है कि कल्पना की उड़ान में कहीं-कहीं कवि स्वाभाविकता को भूल गया है। बिहारी ने अपनी जिस अमूल्य सूझ को रस, अलंकार और छंद के झमेले में खर्च कर दिया यदि उसका उपयोग मानव हृदय की छानबीन में हुआ होता तो निश्चित ही वे हमें और ऊँची वस्तु दे जाते। कला पक्ष बिहारी की कविता का अनुपम है, किन्तु मर्म को प्रभावित करने वाली भावधारा का उसमें अभाव है। बिहारी का प्रेम भी बहुत कुछ जमीन की चीज ही रहा। अतः भावके लिए

वर्णित इनके दोहों से क्षुधित हृदय को पूण सन्तोष नहीं होता, हाँ इन दोहों में चोट करने की शक्ति ह और रूप के प्रकाशन से वे जगमगा उठे हैं।

शृंगार के दोहों के अतिरिक्त बिहारी ने कुछ नीति सँबँधी दोहे भी लिखे हैं किंतु उनमें से वहुत कम को विशुद्ध काव्य की सँज्ञा दी जानी चाहिए।

भूषण और देव ने काव्य भाषा के साथ कहीं कहीं जो निर्दयता दिखाई है, बिहारी में वह नहीं पाई जाती। इनकी भाषा चलती हुई होने पर भी साहित्यिक कही जायगी। बिहारी नये शब्द गढ़ने के भी चक्कर में नहीं पड़े। इनके दोहों के बारे में प्रायः यह दोहा सुनने में आता है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

नीचे इनके कुछ दोहे उद्धृत किये जाते हैं—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तनु की झांई परे, श्याम हरित दुति होय॥
इक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार।
कितै न अवगुन जग करत, वै नै चढ़ती बार॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँसै, देन कहै नटि जाय॥
निस अँधियारी नील पट, पहिरि चली पिय गेह।
कहो दुराई क्यों दुरै, दीप सिखा सी देह॥

मंडन—ये बुंदेलखँडी (जैतपुर निवासी) थे और सँ० १७१६ में इनका वर्तमान होना पाया जाता है। खोजने पर इनके कुछ ग्रँथों का पता लगा है किन्तु कोई ग्रँथ अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है। इनके फुटकर छँद ही इधर उधर सुनाई पड़ते हैं। इनके जिन ग्रँथों का पता

लगा है उनके नाम ये हैं—रस-रत्नालवली, रस-विलास, जनक-पचीसी, जानकी जू को व्याह और नैनपचासा।

इनके उपलब्ध पद्यों को पढ़ने से जान पड़ता है कि ये बड़े ही भावुक हृदय के कवि थे। भाषा इनकी चुस्त और साफ सुथरी है। अन्य कवियों के समान भाषा के साथ खिलवाड़ करने की प्रवृत्ति इनमें नहीं दिखाई पड़ती।

मतिराम—परंपरा के अनुसार ये चिंतामणि और भूषण के भाई ठहरते हैं और रीतिकाल के चोटी के कवियों में इनका स्थान है। ये सं० १६७४ में जिला कानपुर में तिकवाँपुर नामक स्थान में पैदा हुए थे। बूंदी के महाराव भावसिंह के यहाँ रह कर इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रँथ 'ललित-ललाम' की रचना की। इनके अन्य ग्रँथ ये हैं—छँद सार, रसराज, साहित्य सार और लक्षण-शृंगार। इनमें 'रसराज' इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रँथ माना जाता है। एक मतिराम-सतसई का भी पता लगा है जिसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों से टक्कर लेते हैं।

मतिराम की रचना की सब से बड़ी विशेषता है, उनकी भाषा की स्वाभाविक सरसता। अनेक रीतिग्रँथकारों ने भाषा के साथ खेल किया है, किंतु मतिराम ने उसे उसके स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त किया है। रसालकार के लिए भाषा की दुर्दशा नहीं की गई है। उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त भाव के संबंध में भी यही बात लागू होती है। अपनी स्वाभाविक कवि-प्रेरणा के प्रति ये पूर्ण ईमानदार रहे और भाषा और भाव में कोई कृत्रिमता न होने के कारण ही मतिराम का रीतिकाल के कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है।

ललितललाम और रसराज अत्यन्त सरस और सुबोध हैं अतः ये रस और अलकार के प्रेमियों के बड़े ही प्रिय ग्रँथ हैं। इतनी दोषरहित और चलती हुई साफ सुथरी काव्य भाषा लिखने में पद्माकर को छोड़

कर अन्य कोई रीतिकालीन कवि मतिराम के समकक्ष नहीं आता। इनकी कविता का एक नमूना देखिये—

सोने कैसी बेली अति सुन्दर नवेली बाल
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ।
मतिराम अँखियां सुधा की वरषासी भईं,
गई जब दीठि वाके मुख-चंद्र पहियां।।
नैक नीरे जाइ करि बातनि लगाय करि
कछु मन पाइ हरि वाकी गही बहियाँ।
सैननि चरचि लई गौननि थकित भई,
नैननि में चाह करै बैननि में नहियाँ।।

प्रसादपूर्ण, सरल, कोमल भाषा जो भावों को अत्यन्त सरसता से व्यक्त कर दे यह मतिराम की विशेषता है। भाषा के माधुर्य के साथ भावों की उत्कृष्टता भी है।

भूषण—हिन्दी-साहित्य में वीररस काव्य के गायकों में भूषण का अत्यन्त ऊँचा स्थान है। इनके असल नाम का पता नहीं लगता। ये चिंतामणि और मतिराम के भाई कहे जाते हैं और इनका जन्म सं० १६७० और मृत्यु सं० १७७२ के लगभग हुई थी। महाराज शिवाजी और छत्रसाल इनके आश्रयदाता रहे हैं और अपनी ओजस्विनी कविता में भूषण ने इन्हीं हिन्दू लोकनायकों के शौर्य के गान गाये हैं और इन्हें मुसलमानी शासन के खिलाफ जिहाद वोलने के लिए उत्साहित किया है। जब ये छत्रसाल के यहाँ गये तो स्वयँ छत्रसाल ने इनकी पालकी में कँधा लगा दिया। स्वयँ शिवाजी के सँबँध में यह कथा प्रचलित है कि भूषण के एक कवित्त को उन्होंने कई बार सुना और इनाम में लाखों रुपये भूषण को दे दिये।

भूषण के बारे में अकसर एक प्रश्न पूछा जाता है। भूषण जनता के प्रतिनिधि कवि थे अथवा अपने आश्रयदाता की यथार्थ अथवा कल्पित वीरता के अतिरंजित गान करने वाले केवल भाट? इतिवृत्त का थोड़ा सा भी ज्ञान रखने वाले यह जानते हैं कि शिवाजी और छत्रसाल मुसलिम दासता के अंधकारपूर्ण युग में स्वतंत्रता की आशा के दो द्युतिमान नक्षत्र थे। पराजित हिन्दू जनता की समस्त आशा ये ही थे। भूषण स्वयं प्रतिभाशाली कवि और जागरूक व्यक्ति थे। जब शिवाजी और छत्रसाल ने मुसलिम सत्ता के विरोध में अपनी आवाज बुलंद की तो उनको भारत की समस्त हिन्दू जनता की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त हुआ। यही कारण है कि मुट्ठी भर सवारों की सहायता से उस वीर मराठे ने औरंगजेब को नाक चने चबवा दिये। भूषण ने यह सब देखा और समझा। उनके भावुक हृदय की वीणा स्वयं ही झंकृत हो उठी और उनके कंठ से वीर रस की कविता का जो प्रखर नद उमड़ा उसने समस्त हिन्दू जनता को अभिभूत कर दिया। अतः हम बिना किसी अतिशयोक्ति के कह सकते हैं कि भूषण जनता के सच्चे अर्थों में प्रतिनिधि कवि थे। वे तत्कालीन जन-जागरण के दूत थे।

परंपरा-पालन के हेतु भूषण ने लक्षण ग्रंथों की भी रचना की थी पर प्रधान रूप से वे वीर रस के ही कवि थे। उनकी कविता कितनी ओजमयी, कितनी वीर-दर्पपूर्ण और वीरों के हृदय को युद्ध के लिए कितनी प्रेरित करने वाली है, इस संबंध में कुछ कहना चर्वित-चर्वण मात्र होगा। स्वयं एक दो छंद पढ़ कर इस सत्य की जाँच की जा सकती है। बड़ी सशक्त और वीरोल्लासमयी रचना इनकी है।

भूषण के लिखे हुए ग्रंथों में से 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी', और 'छत्रसाल दसक' ये ग्रंथ ही मिलते हैं। भूषण उल्लास, दूषण उल्लास और भूषण हजारा ये तीन ग्रन्थ उनके और माने जाते हैं। रीति परंपरा को

निभाने के लिए भूषण ने 'शिवराज-भूषण' की रचना की पर वह उत्तम रीति-ग्रंथों की कोटि में नहीं आता। उसमें कहीं लक्षण अधूरे हैं तो कहीं उदाहरण दोषपूर्ण। भूषण ने भाषा के साथ बड़ी ही स्वच्छंदता से काम लिया है। दूषित वाक्य-रचना और व्याकरण दोष अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं। उनकी भाषा में व्यवस्था का अभाव है। शब्दों को तोड़ने मरोड़ने के अतिरिक्त मनगढ़ंत शब्दों का भी काफी प्रयोग किया है। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है—

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे को,
बाँधिबो नहीं है कैधों मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न वास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो संभारे क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥

कुलपति मिश्र—ये बिहारीलाल के भानजे कहे जाते हैं और बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के यहाँ रहते थे। इनका 'रस रहस्य' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनके द्रोणपर्व, युक्तितरंगिणी, नखशिख और संग्रामसार नामक ग्रंथ भी मिले हैं।

इनका 'रस रहस्य' मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर आधारित है। इस ग्रंथ में इन्होंने कहीं कहीं गद्य का भी उपयोग किया है। किंतु यह ग्रंथ उतना सुबोध और स्पष्ट न बन सका जितना इसे होना चाहिए था। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था।

देवदत्त—हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कवि देव यही देवदत्त हैं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में देव का अत्यन्त ऊँचा स्थान है। हिन्दी-साहित्य में विहारी और देव को लेकर जो विवाद उठे हैं उनसे सभी साहित्य-प्रेमी परिचित हैं।

महाकवि देव का जन्म सँ० १७३० में इटावे में हुआ था। ये सनाढय ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि इन्होंने अपने जीवनकाल में ७२ ग्रँथों की रचना की। ये एक ही स्थान पर नहीं रहे क्योंकि इन्हें कोई सामर्थ्यवान उदार आश्रयदाता नहीं मिला। इन्होंने भ्रमण भी खूब किया और यही कारण है कि इनकी रचनाओं में अनुभव और वर्णन की विविधता पाई जाती है। इनके 'जाति-विलास' में विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। औरँगजेव के पुत्र आजमशाह के आश्रय में रह कर इन्होंने 'अष्टयाम' और 'भावविलास' को रचना की। इनके प्रसिद्ध ग्रँथ ये हैं—भावविलास, भवानी विलास, सुजान विनोद, प्रेमतरँग, राग रत्नाकर और अष्टयाम।

देव श्रृंगार रस में आपाद-मस्तक-मग्न थे। इनकी कविता में शृँगार रस ही विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है। रीतिकाल की परँपरा के अनुसार देव ने कवि और आचार्य दोनों का कार्य निबाहने का प्रयत्न किया। किंतु जैसा कि पहले कहा जा चुका है रीतिकाल के कम कवियों में ही आचार्यत्व की क्षमता थी। देव भी आचार्यत्व के क्षेत्र में सफल न हो सके। शायद इसका एक कारण ब्रजभाषा थी। ब्रजभाषा में अंतर की सूक्ष्म से सक्ष्म वृत्तियों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति तो सदियों से होती चली आई थी, किंतु सूक्ष्म गूढ़ विवेचना और निरूपण के वह उपयुक्त न थी।

देव चित्रणकला, अभिव्यँजना, वर्ण योजना और रस-उत्कर्ष सभी दृष्टियों से महान कवि हैं। मधुर के साथ साथ विराट पर भी कहीं कहीं उनका पूर्ण अधिकार दिखाई देता है। देव में आवेग और तदनुरूप तन्मयता

भी है। गीतितत्त्व का उनमें प्राधान्य है। उनकी सूक्ष्म रसमय सौंदर्य चेतना विद्यापति के आत्मरस में डूबे सौंदर्य चित्रों की याद दिलाती है। भाषा और भाव का वैसा ही मादक संगति और शब्दार्थ-शिल्प है। निश्चय ही वे रीति काल के सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जा सकते हैं।

देव की मौलिक प्रतिभा का कायल होना पड़ता है। कवि वे निस्संदेह उत्तम कोटि के थे। कभी कभी यह देख कर खेद होता है कि ऐसी मौलिक प्रतिभा की अधिकांश स्फूर्ति प्यारी और प्यारे के संयोग, वियोग और विलास वर्णन में खर्च हुई। इन्होंने कुछ वैराग्य संबंधी कविता भी की है। किंतु उसे पढ़ कर ऐसा जान पड़ता है कि यह मन की किसी स्वतंत्र वैराग्य तार की झंकार नहीं है, वरन भोग विलास से जर्जर मन की प्रतिक्रिया मात्र है। इनकी कविता का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है —

> कोई कहो कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ
> कोई कहो रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
> कैसो नरलोक परलोक वर लोकनि में लीन्हीं
> मैं अलोक लोक लोकनि ते न्यारी हौं॥
> तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ।
> प्रान किन जाउ टेक टरति न टारी हौं॥
> वृन्दाबन वारी बनवारी की मुकुट वारो
> पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं॥

भिखारीदास—हिन्दी-साहित्य में ये 'दास' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका पूरा नाम भिखारीदास है। इनका जन्म सं० १७५५ के लगभग प्रतापगढ़ के टयोंगा गाँव में हुआ था। ये कायस्थ थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे हैं—रस सारांश, छंदोर्णव पिंगल, काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय, नाम प्रकाश, विष्णु पुराण भाषा, छंदप्रकाश, शतरंज-शतिका, अमर-

प्रकाश। इन ग्रँथों में काव्य-निर्णय इनका प्रसिद्ध लक्षण-ग्रँथ है, जिसकी रचना इन्होंने प्रतापगढ़ के राजा के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में की।

'काव्य-निर्णय' दास जी का सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ है और इसी ग्रन्थ के कारण उन्हें आचार्यत्व का गौरव प्राप्त हुआ। इस ग्रँथ में इन्होंने रस, अलँकार, नीति, छँद आदि समस्त काव्यांगों का विशद विवेचन किया है। यद्यपि इस क्षेत्र में दासजी देव आदि कवियों से बहुत आगे हैं तथापि पूर्ण आचार्यत्व को वे भी न पा सके। कहीं कहीं इनके दिए हुए उदाहरण गलत तथा लक्षण अधूरे हैं।

कविता की दृष्टि से इन्होंने श्रृंगार रस पर ही प्रधान रूप से लिखा है। इनकी भाषा बड़ी मँजी हुई है। अपनी काव्य-कला में इन्होंने देव की भाँति अपनी शक्ति के बाहर जाने की कोशिश नहीं की। यही कारण है कि दासजी ने जो कुछ लिखा सुन्दर लिखा। श्रृंगार के अतिरिक्त नीति पर भी इन्होंने कुछ कविता लिखी। दासजी को यदि उनके आचार्यत्व से अलग कर के हम देखें तो हम उनमें एक उत्कृष्ट कोटि का कवि पाते हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है—

नैनन को तरसैये कहाँ लौं कहाँ लौं हिये बिरहागि में तैये।
एक घरी न कहुँ कल पैये कहाँ लगि प्रानन को कलपैये॥
आवै यही अब जी में विचार सखी चल सौतिहूँ के घर जैये।
मान घटे ते कहा घटि हैं जुपै प्रान पियारे को देखन पैये॥

इनकी कविता में आकर्षण, हृदय को स्पर्श करने की शक्ति और भाव की उड़ान है।

बेनी प्रवीन—ये लखनऊ के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और लखनऊ के राजा के दीवान के पुत्र नवलकृष्ण इनके आश्रयदाता थे। इनके आश्रय में रह कर बेनी ने नवरस तरंग नामक अपने सुन्दर काव्यग्रंथ की

रचना की। श्रृंगार-भूषण के अतिरिक्त 'नानाराव प्रकाश' नामक ग्रंथ की भी रचना की। अंतिम ग्रंथ बिठूर के पेशवा नाना राव की प्रशंसा में लिखा गया था।

इनके ग्रंथों में नवरस तरंग सब से अधिक सुन्दर और प्रसिद्ध है। इसमें रस अलंकार, नायिकाभेद आदि का संक्षिप्त पर सुन्दर निरूपण हुआ है। नायिकाभेद के अंतर्गत ऋतु वर्णन आदि का सौन्दर्य देखते ही बनता है। इनकी भाषा भी शुद्ध, चलती हुई तथा स्वाभाविक है। इनकी कविता बड़ी ही सरस हुई है और भाषा तथा भाव में माधुर्य की दृष्टि से कहीं कहीं पद्माकर की सरस कविता की बराबरी करती है। इनकी भाषा में कहीं कहीं खड़ी बोली का पुट है और लखनऊ निवासी होने के कारण नफासत की मात्रा काफी अधिक है। इनके जीवन-वृत्त के बारे में हमें विशेष नहीं मालूम।

कविता का एक उदाहरण देखिये—

भोर ही न्योति गयी थी तुम्हें वह गोकुल गाँव की ग्वारि निगोरी।
अधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि कियो बरजोरी॥
आवै हँसी मोहिं देखत लालन भाल में दीन्हीं महावर घोरी।
एते बड़े बृज मंडल में नहिं माँगे मिली तुम्हें रंचक रोरी॥

पद्माकर—इनका जन्म संवत् १८१० है। ये बाँदा में पैदा हुए थे। सं० १८९० में कानपुर में इनकी मृत्यु हुई। ये जाति के तेलंग ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था। पद्माकर को संस्कृत और प्राकृत साहित्य का अच्छा अध्ययन था। जयपुर के महाराज जगतसिंह के आश्रय में रह कर इन्होंने 'जगद्विनोद' नामक अपने प्रसिद्ध काव्य की रचना की। इनके अन्य ग्रंथों के नाम ये हैं—गंगालहरी, हिम्मत बहादुर विरदावली, पद्माभरण, आलीजा प्रकाश, भाषा हितोपदेश और प्रबोध पचासा। कहते

हैं कि इन्होंने वाल्मीकि रामायण का भी कविता-अनुवाद किया था। कविता करना इनकी खानदानी विशेषता थी। इनके पिता स्वयं एक अच्छे कवि थे और राजा-रईसों के दरबार से इन्होंने खूब धन कमाया।

रीतिकाल के कवियों में पद्माकर का अन्यतम स्थान है। इनकी वाणी में जो सरसता और मीठापन पाया जाता है वह अन्य कवियों में नहीं। इनकी कविता में रीतिकाल उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया और इन्हीं के पश्चात् क्रमशः उसकी अवनति होने लगी। पर इनकी कविता में लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता का ऐसा सामंजस्य है कि इनके पद चमत्कार-पूर्ण ज़ान पड़ते हैं। लोकप्रियता की दृष्टि से ये निःसंदेह रीतिकालीन कवियों में सब से आगे हैं। पद लालित्य में ये हिन्दी कवियों में वही स्थान रखते ह जो संस्कृत कवियों में दंडी।

काव्य-रसिकों के लिए पद्माकर का 'जयद्विनोद' उतना ही प्रिय ग्रंथ रहा जितना कि मतिराम का 'रसराज'। शृंगार रस का यह सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। इनकी कल्पना इतनी सजीव और शक्तिशाली है कि ये जिस विषय का वर्णन करने लगते हैं उसकी मूर्त्ति सी पाठक की आँखों के सामने खड़ी हो जाती है और पाठक रस के सागर में गोते लगाने लगता है। कल्पना और भावुकता के मणिकांचन संयोग से इस सहृदय कवि ने रस की जो धारा बहाई है उसमें अवगाहन करते ही बनता है। भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था। इन्होंने वीर रस की भी इतनी ओजस्विनी कविता की है कि सुन कर हृदय फड़कने लगता है।

यों तो हिंदी के प्रायः सभी कवि अनुप्रास के लालची रहे हैं किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने इस मामले में संयम से काम लिया है। पद्माकर दूसरी कोटि में आते हैं। अनुप्रासों की झंकार यत्र तत्र इनकी कविता में मिलती है किंतु इस बारे में शायद ही कहीं भद्दापन आया हो। जहाँ भावों का सुंदर प्रवाह बह रहा हो वहाँ इनकी भाषा बहुत ही मंजी हुई, स्वाभाविक और

चलती हुई है। इनके चित्रोपम वर्णन बिहारी की याद दिलाते हैं। देव के समान दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया और न देव के समान इस प्रयत्न में उन्हें अक्सर विफल होना पड़ा। इनकी हृदयहारी कविता का एक उदाहरण देखिये—

> पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के
> परत न चीन्हें जे ये लरजत लुंज हैं।
> कहै पद्माकर बिसासी या वसंत के सु,
> ऐसे उत्पात गात गोपिन के भुज्ज हैं॥
> ऊधो यह सूधो सो संदेसौ कहि दीजो भलो
> हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
> किंशुक गुलाब कचनार और अनारन की
> डारन पै डोलत अंगारन के पुंज हैं।

सुखदेव मिश्र—इनका जन्म सं० १६९० के आसपास है और ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। दौलतपुर जिला रायबरेली के ये रहने वाले थे जहाँ आज भी इनके वंश के लोग रहते हैं। अपने ग्रंथ 'वृत्त विचार' में इन्होंने कम्पिला अपना जन्म-स्थान लिखा है और उसमें अपने पूर्वजों के बारे में कुछ लिखा है।

इन्होंने निम्नलिखित पुस्तकें लिखी हैं—वृत्त-विचार, छंदविचार, फाजिलअली-प्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश, दशरथराय और नखशिख।

अपने जीवनकाल में विभिन्न समयों में ये विभिन्न व्यक्तियों के आश्रय में रहे। कुछ समय ये फतहपुर के राजा भगवंतराय खीची के यहाँ रहे। इसके अतिरिक्त औरंगजेब के मंत्री फाजिल अली, अमेठी के राजा हिम्मत सिंह, मुरारिमऊ के राजा देवी सिंह के यहाँ भी इनकी काफी इज्जत हु

सुखदेव जी संस्कृत और प्राकृत के अच्छे विद्वान् थे। अपने रीति-ग्रंथों में अन्य रीति ग्रंथकर्ताओं की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह आचार्यत्व को निभा सके हैं।

कालिदास त्रिवेदी--ये सं० १७१० के लगभग कानपुर जिले के बनपुरा नामक गाँव में पैदा हुए थे। इस परंपरा के प्रसिद्ध कवि रवीन्द्र और दूलह क्रमशः इनके पुत्र और नाती थे। इनकी उपलब्ध रचनाओं से इनके जीवन के बारे में हमें विशेष नहीं मालूम होता। संभवतः औरंगजेब के सं० १७४५ वाले गोलकुंडा के आक्रमण में ये किसी राजा के साथ गए थे। ये जंबू-नरेश जोगजीत सिंह के यहाँ भी रहे थे जहाँ इन्होंने अपने ग्रंथ 'बारवधू-विनोद' की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने कालिदास-हजारा और जजीरा, नामक ग्रंथ भी रचे। इनमें कालिदास-हजारा ही इनकी सब से अधिक प्रसिद्ध पुस्तक है। इस ग्रंथ में सं० १४८१ और १७९६ के बीच में होने वाले २१२ कवियों के एक हजार छन्दों का संग्रह है। कवियों के काल-निर्णय में यह ग्रंथ बड़ा सहायक है।

कविता की दृष्टि से ये अच्छे दर्जे के कवि थे। इनकी कविताओं में सरसता और सहृदयता की पर्याप्त मात्रा है।

नेवाज—यों तो नेवाज नाम के दो तीन कवि हिंदी-साहित्य में हो गये हैं किंतु हमारा तात्पर्य यहाँ अन्तर्वेद में पैदा होने वाले नेवाज से है। क्योंकि तीनों में ये ही उत्तम कोटि के कवि ठहरते हैं। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये सं० १७३९ में पैदा हुए थे। इनका लिखा हुआ एक 'शकुन्तला नाटक' मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके फुटकल छंद ही इधर उधर मिलते हैं। इनकी भाषा बहुत ही मँजी हुई तथा भावों के अनुरूप है। इनकी शृंगार रस की कविता निस्संदेह बहुत अच्छी हुई है। कहीं कहीं ये अश्लीलता के पंक में भी फँस गये हैं। पद्य के अतिरिक्त इन्होंने थोड़ा बहुत गद्य भी लिखा है। ये औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के यहाँ भी रह आये थे।

श्रीधर—इन्होंने वीररस की अच्छी कविता की है। इनके जीवन के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं मालूम होता। इनकी 'जंगनामा' नामक पुस्तक वीररस की सफल रचना है जो सँ० १७६९ के लगभग लिखी गई थी। इसमें जहाँदार और फर्रुखसियर के बीच में होने वाली लड़ाइयों का वर्णन है। कविता की भाषा में बुंदेलखंडी की पुट बहुत अधिक है इससे उसमें ऊबड़-खावड़पन आ गया है। किंतु कविता ओजस्विनी है।

कवीन्द्र—इनका जन्म सं० १७३६ के लगभग हुआ था और ये कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे। ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह, और उनके पुत्र गुरुदत्त के पास काफी रहे हैं। बूंदी के राव और भगवन्त राय खीची के यहाँ भी इनकी काफी इज्जत होती थी। इन्होंने रस चंद्रोदय, विनोद चंद्रिका और जोग लीला नामक पुस्तकें लिखीं हैं। इनमें 'रसचँद्रोदय' सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। यह शृंगार का एक सुन्दर ग्रन्थ है। इनकी भाषा सरस और सरल है।

श्रीपति—ये काल्पी निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अपने 'काव्य सरोज' नामक ग्रन्थ की रचना सं० १७७७ के लगभग इन्होंने की। इसके अतिरिक्त इनके लिखे निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—विक्रम विलास, कवि कल्पद्रुम, रस सागर, अनुप्रास विनोद, सरोज कलिका और अलंकार गंगा। कविता ये अच्छी करते थे। किसी हद तक इन्होंने आचार्य का भी काम किया। अपने ग्रन्थों में इन्होंने काव्य के विभिन्न अंगों की विशद विवेचना की है। आपकी भाषा ओजपूर्ण है और उसमें अलँकारों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। भविष्य के अनेक कवियों ने इनका अनुकरण किया। इनकी कविता में सुन्दर प्रकृति-चित्रण और उदात्त विचार पाये जाते हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है—

ताल फीको अजल कमल बिन जल फीको
कहत सकल कवि हवि फीको रूम को।

बिन गुन रूप फीको ऊसर कूप फीको
परम अनूप भूप फीको बिन भूम को ॥
श्रीपति सुकवि महावेग बिन तुरी फीको
जानत जहान सदा जोह फीको धूम को।
मेह फीको फागुन अबालक सो गेह फीको
नेह फीको तिय को सनेह फीको सूम को ॥

अलीमुहिब खाँ 'प्रीतम'—ये आगरे के निवासी थे। इन्होंने अपना उपनाम 'प्रीतम' रखा था। यों तो रीति-काल में प्रधान रूप से शृंगार रस की ही कविताएँ हुई पर यदा कदा अन्य रसों पर कविता करने वाले कवि भी दीख पड़ते हैं। प्रीतम साहब की कविता इसका उदाहरण है। रीति-काल में होते हुए भी इन्होंने अपना ध्यान हास्यरस की ओर दिया और 'खटमल-बाईसी' लिख कर हिन्दी-साहित्य को एक बिल्कुल ही नई चीज दी। 'खटमल बाईसी' हास्यरस की रचना है और शिष्टता की सीमा में है। इस दृष्टि से ये एक पथ प्रदर्शक कवि कहे जा सकते हैं। इनकी 'बाईसी' का एक नमूना देखिये—

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो काहू दारू न बताई है ॥
जब हहराय हम हरि के निकट गए,
हरि मोसों कहीं तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ न उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है ॥

तोषनिधि—इनका पूरा नाम तोषनिधि था। ये चतुर्भुज शुक्ल के लड़के थे। इन्होंने 'सुधानिधि' नामक एक नायिकाभेद का ग्रंथ लिखा। इनके जीवन के सम्बन्ध में हमें अधिक नहीं मालूम। ऐसा अनुमान है कि इन्होंने विनयशतक और नखशिख नामक दो और ग्रंथों की रचना की। कहीं कहीं इनकी कविता बड़ी सरस हुई है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है—

एक कहै हँसि ऊधव जी ब्रज की जुवती तजि चन्द्र प्रभा सी।
जाइ कियो कहि तोष प्रभू एक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी॥
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो हहा मथुरा मैं कहा मति नासी।
जीव नहीं उबि जात जबै ढिग पौढ़ति है कुबजा कछुआ सी॥

वंशीधर—इनका ग्रंथ 'अलंकार रत्नाकर' अपने प्रकार का एक ही लक्षण ग्रन्थ है। इसे इन्होंने उदयपुर के राजा जगतसिंह की आज्ञा से दलपति राज महाजन के साथ बनाया। यह ग्रन्थ जसवंतसिंह के 'भाषा-भूषण' के समान ही लोकप्रिय हुआ। इसमें अलंकार की परिभाषा पद्य में देकर उसे गद्य में समझाया गया है। रीतिकाल के भीतर कभी कभी गद्य का प्रयोग इस प्रकार और भी देखा जाता है। गद्य के विकास की यह पहली स्थिति थी। बाद में यही बीज पूरे रूप में फलता-फूलता है। उदाहरण भी कवि की काव्य-प्रतिभा के सूचक हैं। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अलंकार के पठन-पाठन के लिए बड़ी ही उपयोगी है। इसमें दी गई कवियों की लम्बी नामावली साहित्य के इतिहास की खोज में उपयोगी सिद्ध हुई है।

सोमनाथ—ये भरतपुर के महाराज बदनसिंह के छोटे लड़के के यहाँ रहते थे। इनकी 'रसपीयूष-निधि' नामक विशद रीति पुस्तक प्रसिद्ध है। इसकी रचना सं० १७९४ में हुई। इस पुस्तक में पिंगल, ध्वनि, भाव,

रसादि काव्य के लक्षण , रस रीति, गुण, दोष प्रायः समस्त काव्यांगों का विशद विवेचन किया गया है। ग्रन्थ का कलेवर दासजी के काव्य-निर्णय से भी बड़ा है और इसका विषय-प्रतिपादन देख कर जान पड़ता है कि ये काव्य-शास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। किंतु इनके आचार्यत्व में वही कमी है जो रीतिकाल के अन्य कवि आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में मिलती है।

आचार्य के काम के साथ साथ इन्होंने काव्य-रचना भी सुन्दर की है। ससिनाथ उपनाम से ये कविता लिखते थे। ये अत्यन्त भावुक और सहृदय थे और इनकी भाषा भी अत्यन्त स्वाभाविक है। उसे गढ़ने का प्रयत्न कहीं नहीं मिलता। 'रस पीयूष-निधि' के सिवा इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की भी रचना की है—

कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी, सुजान-विलास और माधव-विनोद नाटक। ये तीनों ग्रन्थ बहुत कुछ प्रबन्ध के ढंग पर लिखे गए हैं। रीतिकाल के कवियों ने प्रधान रूप से मुक्तक में ही कविता लिखी। किंतु इन्होंने प्रबन्ध की ओर भी ध्यान दिया। यह इनकी विस्तृत दृष्टि का सूचक है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिये—

> दिसी विदिसन तें उमड़ि मढ़ि लीनो नभ,
> छाँड़ि दीने धुरवा, जवासे-जूथ जरिगे।
> डहडहे भये द्रुम रंचक हवा के गुन,
> कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरिगे॥
> रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
> 'सोमनाथ' कहै बूंदाबूंदी हू न करिगे।
> सोर भयो घोर चारों ओर महि मंडल में,
> आरे घन आये घन, आय कै उघरिगे॥

रसलीन—हरदोई जिले में बिलग्राम में कई प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् हो गये हैं। रसलीन वहीं के रहने वाले थे। इनका जन्म सं० १७६४ के लगभग माना जाता है और इनका असल नाम सैयद गुलाम नबी था। इन्होंने दो पुस्तकें लिखीं—'अंग-दर्पण' और 'रस प्रबोध'। अंगदर्पण तो इनकी बहुत ही प्रसिद्ध रचना है। अंग दर्पण में उपमादि अलंकारों द्वारा शरीर के अंगों का अलंकारों के माध्यम से बड़ा ही चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया है। रस-प्रबोध में रसों के सम्बन्ध में लिखा गया है। रसलीन ने विशेष कर दोहे ही लिखे हैं और कला की दृष्टि से ये दोहे उतने ही सुन्दर बन पड़े हैं जितने कि बिहारी के दोहे। सूक्तियों के तो ये भंडार हैं। मुसलमान होते हुए भी ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा सुबोध है। 'रस-प्रबोध' रस के विषय में छोटा सा अच्छा ग्रन्थ है। आँखों के सम्बन्ध में इनका प्रसिद्ध और बहु-उद्धृत दोहा देखिये—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

नीचे इनके कुछ और दोहे दिये जाते हैं—

धरति न चौकी नग जरी, यातें उर में लाइ।
छाँह परे पर पुरुष की, जिन तिय धरम नसाइ॥
मुख ससि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भँवर, होत नयन रसलीन॥
सौतिन मुख निसि कमल भो, पिय चख भये चकोर।
गुरुजन मन सागर भये, लखि दुलहिनि मुख ओर॥

रघुनाथ—ये काशी के राजा बीरबंड सिंह के दरबार में रहते थे। महाराज ने चौरा गाँव दे दिया था। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार इन्होंने निम्नलिखित चार ग्रन्थों की रचना की—काव्य-कलाधर, रसिक-मोहन,

जगतमोहन और इश्क-महोत्सव। 'रसिकमोहन' अलंकार का ग्रन्थ है। इसमें शृंगार के अतिरिक्त वीरादि अन्य रसों के भी उदाहरण दिये हैं। स्पष्टता और सुन्दरता इन उदाहरणों की विशेषता है। 'काव्य-कलाधर' रस संबंधी ग्रंथ है। 'जगतमोहन' में कृष्ण भगवान की एक पूरे दिन की चर्य्या कही है और इसमें कवि ने अनेक विषयों के अपने ज्ञान का परिचय दिया है। किंतु यह वास्तविक काव्य-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। 'इश्क-महोत्सव' खड़ी वोली में लिखा गया है जिसमें उर्दू की वहुत ज्यादा पुट है। ये उर्दू के भी अच्छे ज्ञाता थे।

काव्य कलाधर में भावभेद, रस भेद कम—नायक भेद—ही अधिक है। ग्रन्थ विषय-निरूपणात्मक कम वर्णनात्मक अधिक है। अलंकारों की झलक होने पर भी भाषा साधारण कही जायगी।

दूलह—ये कवीन्द्र के पुत्र और कालिदास त्रिवेदी के नाती थे। इनके जीवन के वारे में हमें वहुत कम मालूम है। इन्होंने 'कविकुल कंठाभरण, नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें ८५ छंद हैं। कुछ फुटकल छंद भी इन्होंने लिखे हैं। जैसा कि कवीन्द्र और कालिदास के संवंध में कहा जा चुका है, कविता इनकी खानदानी चीज थी। इन तीनों में दूलह सव से अच्छे कवि थे। इन्होंने लिखा तो कम है किंतु जो कुछ लिखा है वही उन्हें प्रतिभाशाली कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अलंकारों के प्रचलित वोध के लिए इनका ग्रन्थ ठीक है। लक्षण और उदाहरण एक ही छंद में विधिवत् कहने के लिए इन्होंने कवित्त और सवैया छन्द चुना है। इनकी कल्पना में माधुर्य और शैली में चोट है। इनकी काव्य प्रतिभा असंदिग्ध है।

वेनी वन्दीजन—अवध के महाराज टिकैतराय इनके आश्रयदाता थे। ये वेंती के निवासी थे। इन्होंने 'टिकैतराय प्रकाश' और 'रसविलास' नामक ग्रंथों की रचना की। प्रथम ग्रंथ वेनी के आश्रयदाता के नाम पर वना है। इसमें कवि ने अलंकार-निरूपण किया है। 'रस-विलास' के नाम

से ही प्रतिपादित विषय स्पष्ट है। किंतु बेनी की प्रसिद्धि का कारण है इनकी हास्यरस से पूर्ण भड़ौवों की रचना। इनका भड़ौआ-संग्रह हास्यरस की एक बड़ी ही अनूठी रचना है और विषय-नवीनता के कारण बेनी की मौलिक काव्य-प्रतिभा की द्योतक है। अंग्रेजी साहित्य में जिस प्रकार अलेक्जेंडर पोप ने अपनी व्यंग्यात्मक कविता में समसामयिक लेखकों पर छींटाकशी करके उनका मजाक उड़ाया है उसी प्रकार बेनी ने भी कहीं कहीं छींटाकशी की है। ये उर्दू की हजो पद्धति या उपहास काव्य के अनुयायी हैं। उदाहरणार्थ लखनऊ के ललकदास के बारे में इनकी एक पंक्ति देखिये—'बाजे बाजे ऐसे डलमऊ में बसत जैसे मऊ के जुलाहे लखनऊ के ललक दास।' इनके भड़ौआ-संग्रह में इस प्रकार की सैकड़ों पंक्तियां मिलेंगी। हास्यरस के कवि के विचार से ये रीतिकाल में अपना एक अलग ही स्थान रखते हैं। व्यक्ति विशेष पर छींटाकशी करने के अतिरिक्त इन्होंने अन्य छोटे मोटे विषयों पर भड़ौवे बनाये हैं जिन्हें पढ़ कर पाठक हँस हँस कर लोट पोट हो जाता है। और उसका साहित्यिक मनोरंजन होता है। इनकी रचना का एक उदाहरण दिया जाता है—

आध पाव तेल में तयारी भई रोशनी की,
आध पाव रूई में पोशाक भई बर की।
आध पाव छाले के गिनौरा दिया भाइन को
माँगि माँगि लायो है पराई चीज घर की॥
आधि आधि जोर बेनी कवि की विदाई कीनी,
ब्याहि आयो जब तें न बोले बात थिरकी।
देखि देखि कागद तबीअत सुखादी भई
सादी कहा भई बरबादी भई घर की॥

इनका कविताकाल संवत् १८४९ से १८८० तक माना जाता है।

ग्वाल कवि—ये मथुरा के रहने वाले थे और इनके पिता का नाम सेवाराम था। अनुमान से इनके जन्म और मरण-संवत् १८४८ और १९२८ हैं। ये जगदम्बा और शिवजी की उपासना करते थे। इनका बनवाया एक शिव मंदिर मथुरा में अभी विद्यमान है।

इनके सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। अपने गुरू द्वारा शाला से निकाल दिये जाने पर ये एक तपस्वी की तन, मन, धन से सेवा करने लगे। वह इन पर प्रसन्न हो गया और उसी के आशीर्वाद की कृपा से इनमें अपूर्व काव्य-प्रतिभा जागृत हो गई। इन्होंने भारतवर्ष के कई भागों का भ्रमण किया था जिसके परिणाम स्वरूप ये प्रांतीय भाषाओं में भी छंद रचना कर सके। कहते हैं कि महाराज रणजीत सिंह के दरबार में भी इनकी पहुँच थी और महाराज से इन्हें भूमि आदि की प्राप्ति भी हुई। इनके लिखे हुए ५० या ६० ग्रंथ कहे जाते हैं। इनका सब से प्रसिद्ध ग्रंथ 'यमुना-लहरी' है जिसमें प्रकृति और ऋतुओं का सुन्दर वर्णन है। इसके अतिरिक्त इनके कुछ दूसरे ग्रन्थों के नाम ये हैं—

रसिकानंद, भक्तभावन, रस रंग, कृष्ण का नख शिख, दूषणदर्पण, हम्मीर हठ, राधा माधव मिलन, राधाअष्टक, कवि हृदय विनोद, कुब्जाष्टक कृष्णाष्टक। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। ये बड़े ही मौजी स्वभाव के थे। एक उदाहरण देखिये—

> **मोरपखा सिर ऊपर सोहै अधर बंसुरिया राजत बाय।**
> **गाय बजाय नचावे अँखियन करिया कमरी साजत बाय॥**
> **ग्वाल किये संग घाट बाट में धरा छूइ मोर भाजत बाय।**
> **हाय ननदिया का करिहौं मैं कहत बाद जिय लाजत बाय॥**

आचार्य शुक्ल जी इन्हें पद्माकर के समकक्ष ही बड़ा कवि मानते हैं। इनकी लोकप्रियता भी ऐसी है। इनकी अन्य कविताओं से भी इनका

फक्कड़पन प्रकट होता है। भाषा में प्रवाह और व्यवस्था है। अरबी फारसी के शब्दों के प्रयोग के साथ साथ इन्होंने कहीं कहीं उर्दू कविता का लहजा भी अपनाया है। पर वहाँ सस्तापन आ गया है। यों ये कविता-कुशल और भाव-विदग्ध थे।

प्रतापसिंह—इनके पिता रतनेस बन्दीजन चरखारी के राजा विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इनकी कविता सुन्दर हुई है। इनके प्रसिद्ध ग्रंथों के नाम ये हैं—'व्यंग्यार्थ कौमुदी', 'काव्य-विलास', 'शृंगार-मंजरी', 'अलंकार-चितामणि', 'काव्य-विनोद' और 'जयसिंह'। इन्होंने मतिराम के रसराज और विहारी की सतसई की टीका भी लिखी है। ये रीति परंपरा के अंतिम कवियों में मुख्य थे। इनकी 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' सव से अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इस ग्रंथ में रस और अलंकार का वड़ा ही सुन्दर निरूपण हुआ है। अन्य रीति ग्रंथों में जो अभाव रह गया था वह इस पुस्तक द्वारा पूर्ण हो गया। ये अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ थे और व्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा निर्दोष और सौष्ठवपूर्ण है। पद योजना कहीं निरर्थक नहीं है। इनकी रचनाओं में शृंगार और प्रकृति के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। अन्य विषयों पर भी इन्होंने लिखा है। एक उदाहरण देखिये—

कानि करै गुरु लोगन की, न सखीन की सखीन हौं मन लावति।
ऐंड़-भरी अँगराति खरी, कत घूँघट में नए नैन नचावति ॥
मंजन कै दृग अंजन, आँजति, अंग अनंग-उमंग बढ़ावति।
कौन सुभाव री तेरो परयो, खिन आँगन में खिन पौरि में आवति ॥

ऊपर दिए हुए कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल के काव्य को समृद्ध वनाने में निम्नलिखित कवियों का भी काफी हाथ रहा है। उनके ये नाम हैं—

राम (संवत् १७०३), सूरत मिश्र (संवत् १७६६), वीर (संवत् १७७९), कृष्ण कवि (संवत् १७७९), गंजन (संवत् १७८६), भूपति (संवत् १७९१), कुमारमणि भट्ट (संवत् १८०३), शंभूनाथ मिश्र (संवत् १८०६), शिवसहाय दास (संवत् १८०९), वैरीसाल (संवत् १७९८), रतन (संवत् १८३०), चंदन (संवत् १८४५), देवकीनन्दन (संवत् १८४१), महाराजा रामसिंह (संवत् १८३९), मान कवि (संवत् १८४५), थान कवि (संवत् १८४७), करन कवि (संवत् १८६०), गुरुदीन पांडेय (संवत् १८६०) तथा रसिक गोविन्द (संवत् १८५०)।

रीतिकाल में हिन्दी साहित्य की अन्य धाराएं

रीतिकाल के प्रमुख प्रतिनिधि कवियों का वर्णन किया जा चुका है। हम इन्हें प्रतिनिधि कवि इसलिए कहते हैं कि इनकी रचना में रीति कालीन साहित्य की सभी प्रमुख विशेषताएं, चाहे वे भाषा संबंधी हों अथवा विचारधारा संबंधी, अपने प्रौढ़ रूप में व्यक्त हुई हैं। किंतु यह एक सामान्य सत्य है कि साहित्य अथवा जीवन में कोई धारा विशेष अपने बिलकुल शुद्ध रूप में एकाकी अस्तित्व नहीं रख सकती। उसमें अन्य तत्त्वों का थोड़ा बहुत सम्मिश्रण अनिवार्य है। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार रीति-काल में लक्षणग्रंथ लिखने वाले कवि आचार्यों के अतिरिक्त अन्य लेखक भी हुए जिन्होंने रीति काल की बँधी प्रणाली के अनुसार रचना न करके भिन्न भिन्न मार्ग अपनाये। इन लेखकों का ध्यान शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों की ओर भी गया। कुछ कवियों ने भक्ति तथा वीर रस की सुन्दर कविता की। कुछ ने नीति संबंधी कविता बनाई जिसमें जीवन के संबंध में अनेक शिक्षाप्रद सूक्तियाँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त शृंगार रस की कुछ फुटकल कविताएँ भी हुई जिनमें कवियों ने अपनी मौज के अनुसार लिखा। इनका उद्देश्य नखशिख अथवा नायिका भेद का सांगोपांग वर्णन करना न था। वे तो अपनी रुचि के अनुकूल जीवन के कुछ अंग विशेष, हृदय की तल्लीनतापूर्ण भावनाओं पर सुन्दर कविता लिखा करते थे। ऐसे कवियों में घनानंद का स्थान सबसे ऊँचा है। लक्षणबद्ध रचना ध्येय न होने के कारण मार्मिकता और

काव्यत्व इन फुटकल कविताओं में अधिक है। सूक्तियों की मौलिकता और मनोदशा-वर्णन की विविधता भी पाई जाती है। कविता की एक-रसता और एकरूपता से यहाँ आकर मुक्ति मिलती है और मन को एक सुखद परिवर्तन का बोध होता है। हृदय की सहज रुचि और रुझानों के—प्रेमासक्ति और स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद के दर्शन हमें वहाँ होते हैं। जीवन के अपेक्षाकृत सूक्ष्म, व्यापक प्रवृत्तिमूलक मूल्यों की व्यंजना आप से आप इन कवियों की कविता में हुई है।

इस समय अनेक कवियों ने प्रबंध-काव्य लिखने का प्रयत्न किया। किंतु साहित्य के इस अंग की कोई विशेष उन्नति न हो पाई। इस काल में लिखे गये अनेक प्रबन्ध काव्यों में से कुछ के नाम ये हैं—सबल सिंह का महाभारत, छत्र सिंह की विजय मुक्तालवी, गुरु गोविन्द सिंह का चंडी चरित्र, कवि लाल का छत्र प्रकाश, जोधराज का हम्मीर-रासो, सूदन का सुजान-चरित्र, देवीदत्त की बैताल पचीसी, ब्रजवासी दास का ब्रजविलास। भक्तिकाल में तो हिन्दी साहित्य की प्रबन्ध धारा तुलसी और जायसी जैसे प्रतिभा संपन्न कवियों को पाकर अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। रीतिकाल में पद्मावत और रामायण की गौरव पूर्ण परंपरा का भार वहन कर सकने की क्षमता वाला कोई कवि न हुआ। ऊपर लिखे प्रबन्ध ग्रंथों में कवित्व और विषय का प्रसार, जीवन दृष्टि की व्यापकता विशेष मात्रा में नहीं पायी जाती।

इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का प्रबन्ध भी इस समय लिखा गया जिसमें वर्णन प्रधान था। इस प्रकार की रचना को वर्णन-प्रधान प्रबन्ध कह सकते हैं। दानलीला, मानलीला, वनविहार, जलविहार आदि इस प्रकार के काव्य के उदाहरण हैं। इस प्रकार महाकाव्य की कथाओं के विभिन्न अंगों पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी जाने ल ीं। इनमें बड़े विस्तार से चीजों का वर्णन होता है; जैसे खाने-पीने के वर्णन में सैकड़ों

मिठाइयों के नाम गिनाना। इन लंबे अनावश्यक वर्णनों से कभी कभी जी ऊब जाता है। कवित्व की दृष्टि से ये ग्रन्थ भी कुछ बहुत अच्छे नहीं बन पड़े। एक रस्म अदाई-सी इनमें मिलती है।

कुछ कवियों ने नीति की फुटकल कविताएँ रचीं। गिरिधर, घाघ, वृंदादि इसी कोटि के कवि हैं। इनकी कविता में जीवन के सत्य प्रभावशाली और चुभते हुए ढंग से कहे गये हैं। किंतु रस सृष्टि के लिए इतना ही काफी नहीं होता और बिना रस के कविता नहीं बन सकती। अतः जैसा कि स्व० शुक्ल जी ने कहा है हम इन्हें कवि न कह कर सूक्तिकार कहेंगे। रहीम, तुलसी आदि ने जो उपदेश प्रधान कविता लिखीं, ये सूक्तिकार उसी परंपरा के वाहक हैं। परिष्कृत रुचि के लोग इन रचनाओं की कविता की दृष्टि से इतनी कद्र नहीं करते। किंतु अपढ़ अथवा अर्द्धशिक्षित जनसाधारण में इस उपदेश-प्रधान कविता का खूब प्रचार हुआ। गिरिधर की कुंडलियाँ आज भी सुनने में आती हैं। इनमें ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों का मिश्रित रूप प्रयुक्त हुआ है। दोहों के स्थान में कुंडलिया और छप्पय का अधिक प्रयोग हुआ है। यों तो सम्पूर्ण भक्ति काव्य तथा रीति काव्य (अत्यधिक निरूपण मूलक छन्दों को छोड़ कर) जनता का काव्य है—इस अर्थ में कि वह जनता के कंठ के नीचे उतरा और उनके व्यक्तित्व का अंश बन गया। पर नीति की कवितायें इस दृष्टि से सब से आगे मानी जायँगी। विषय विविधता और सूझ की विचित्रता के साथ साथ इन कविताओं में एक सीधी चोट है जो लोक रुचि को आकर्षक तो लगती ही है उसे शिक्षित और परिष्कृत भी करती है। उनमें कंटस्थ हो जाने का गुण भी है और अपने प्रसादपूर्ण गठन के कारण वे सरस न हो कर भी नीरस नहीं होतीं।

इस काल में भक्ति और ज्ञान उपदेश से संबंधित कविताएँ भी हुईं। इनका प्रभाव हमारी बुद्धि पर ही पड़ता है। हमारे हृदय को ये आलो-

ड़ित नहीं कर पातीं। इस कोटि के अधिकांश कवियों की कविताएँ विशेषताहीन हैं। कुछ एक दो प्रतिभा-संपन्न कवि ही ऐसे मिलते हैं जिन्होंने उपमा, रूपक आदि का प्रयोग कर भगवद्भक्ति, और संसार से विरक्ति आदि पर सुन्दर काव्य-रचना की हैं। पर ध्यान से देखा जाय तो इसे चर्वित चर्वण ही कहा जायगा। भाषा, भाव; विचार, छन्द और शैली—आन्तरिक विश्वास और आस्था की प्रतीति—किसी दृष्टि से इनमें नवीनता या ताजगी नहीं है। वह अलौकिक रस नहीं।

वीर रस की फुटकल कविताएँ भी इस काल में लिखी जाती रहीं। कवि लोग अपने आश्रयदाता की वीरता अथवा दानशीलता का अतिरंजनापूर्ण वर्णन करते रहे। कुछ कवियों ने तत्कालीन समाज के त्राता और नायिकों को अपना आश्रयदाता बनाया जिसके परिणाम स्वरूप जनता की भावना उनकी वाणी में अभिव्यक्त हुई। भूषण इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। वे वीर रस के पिटभरू कवि नहीं थे जो अपने रोटीदाता की काल्पनिक वीरता के सच्चे झूठे गीत गाते। वे तत्कालीन जागरण के प्रतिनिधि राष्ट्रीय कवि थे। हिन्दी-साहित्य के आदि काल में वीर रस के ग्रंथों की जो परिपाटी आरंभ हुई वह प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से अब तक बहती ही रही। रीतिकाल में वीर रस के वर्णन में अधिक विस्तृत दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। इन ग्रंथों में कहीं कहीं उच्च कोटि की कविता तो मिलती ही है, साथ ही साथ रस और अलंकार का निर्वाह भी अच्छी तरह हुआ है। भूषण का शिवराज भूषण लक्षण-बद्ध अलंकार निरूपण के ढंग पर लिखा गया है जो इस बात का द्योतक है कि वीर काव्य की सनातन धारा भी युग विशेष में आ कर रीति का माध्यम पकड़ लेती है। संस्कृत के श्रेष्ठ वीर काव्यों के पद्यबद्ध अनुवाद की रुचि भी कवियों में देखी जाती थी। भागवत, महाभारत, तथा गुमान मिश्र कृत नैषध काव्य इसके प्रमाण हैं। ओज के आधिक्य ने भाषा की शुद्धता को दबा दिया है।

इस काल में गद्य लिखने के भी कुछ प्रयत्न हुए किंतु अपवाद स्वरूप। 'वैष्णव वार्ता' के समान कुछ पुस्तकें लिखी गईं। किन्तु ब्रजभाषा की शक्ति गद्य के लिए उपयुक्त न थी। अतः अच्छा गद्य कम ही मिलता है। खड़ी बोली इस समय तक मुसलमानी भाषा ही समझी जाती रही। यदाकदा ही उसका प्रयोग कवियों ने किया है। पर भाषा में एक नवीन दिशा की ओर बढ़ने और नया स्वरूप पकड़ने की स्पष्ट प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसी समय रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह ने हिन्दी का प्रथम नाटक लिखा। कुछ अन्य लेखकों ने भी नाटक लिखे पर नाटक अपने स्वाभाविक रूप में विकसित न हो सका। नीचे इस काल के प्रमुख लेखकों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

सबलसिंह चौहान—इनके जन्म और मरण संवत् १७०० और १७९२ माने जाते हैं। शायद ये इटावे के किसी गाँव के मालगुजार थे। इन्होंने पूरा महाभारत दोहे चौपाइयों में लिखा है। अनुमान किया जाता है कि पूरा ग्रन्थ ६५ वर्ष में लिखा गया था। इसके अतिरिक्त रूपविलास पिंगल, षटऋतु, बरवै और भाषा ऋतुसंहार भी इनके लिखे ग्रन्थ कहे जाते हैं। महाभारत में युद्ध-वर्णन बड़ा ही प्रभावशाली हुआ है। इनकी प्रसिद्धि का कारण महाभारत ही है। इस ग्रन्थ में सीधी सादी भाषा में कथा कह दी गई है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं—

अभिमनु घेरे आय सब, मारत अस्त्र अनेक।
जिमि मृगगण के यूथ महं, डरत न केहरि एक॥
लैके सूल कियो परिहारा। वीर अनेक खेत महं मारा॥
जख्मी अनी भभरि कै भागे। हँसि के द्रोण कहनि अस लागे॥
धन्य धन्य अभिमनु गुन आगर। सब क्षत्रिन महँ बड़ो उजागर॥
धन्य सहोदा जग में जाई। ऐसे वीर जठर जनमाई॥

वृन्द—ये औरंगजेब के दरबार में थे और इन्हें औरंगजेब के पोते अजीमुश्शान ने माँग लिया था। वह वृन्द को अपने साथ ही रखता था। इनकी 'वृन्द सतसई' में नीति के सात सौ दोहे संगृहीत हैं। ये महाराज कृष्णगढ़ के गुरू थे जहाँ आज भी इनके वंशधर विद्यमान हैं। इनके नीति के दोहे बड़े ही लोकप्रिय हैं और आज भी लोगों के मुंह सुने जाते हैं। इनकी भाषा सरल और हृदय-स्पर्शिणी है। इन्होंने उपमा का बहुत प्रयोग किया है। नीति संबंधी इनसे अधिक सुन्दर दोहे शायद और किसी हिन्दी कवि ने नहीं लिखे। इनके कुछ दोहे देखिये—

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस श्रृंगार न सुहात॥
फीकी पै नीकी लगे, कहिये समय विचारि।
सब को मन हर्षित करै, ज्यों विवाह में गारि॥
हितहू की कहिये न तिहि, जो नर होय अबोध।
ज्यों नक्टे को आरसी, होत दिखाये क्रोध॥

बैताल—इनका जन्म सं० १७३४ है। ये विक्रमशाह के दरबारी कवि थे और प्रायः उन्हीं को संबोधन करके इन्होंने अपने छंद बनाये हैं। अपनी 'विक्रम सतसई' की रचना भी वैताल ने विक्रमशाह के नाम पर की। प्रतिदिन के जीवन में अनुभूत सत्यों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन इनकी कविता में मिलता है। अपनी सूक्तियाँ प्रायः छप्पय छंद में ही इन्होंने लिखी हैं। ये बड़े ही निर्भय स्वभाव के थे। गिरिधर के समान व्यावहारिक जीवन के सत्यों को प्रकट करने के लिए इन्होंने आलंकारिक ढंग नहीं अपनाया। सीधी बात को सीधे ढंग से कहना इन्हें ज्यादा रुचिकर था। फिर भी इनके कथन का ढंग और रस अनूठा ही रहा। एक उदाहरण देखिये—

ससि बिन सूनी रैन ज्ञान बिन हिरदै सूनो ।
कुल सूनो बिन पुत्र पत्र बिन तरुवर सूनो ।।
गज सूनो इक दंत ललित बिन सायर सूनो ।
विप्र सून बिन वेद और बिन पुहुप बिहूनो ।।
हरिनाम भजन बिन संत अरु घटा सून बिन दामिनी ।
बैताल कहै बिक्रम सुनो पति बिन सूनी कामनी ।।

कहीं कहीं सामाजिक आचारों और लौकिक असंगतियों पर भी इन्होंने तीव्र प्रहार किया है ।

आलम और शेख—शिवसिंह सरोज के अनुसार ये सनाढ्य ब्राह्मण ठहरते हैं और इनका जन्म सं० १७१२ माना जाता है । ये औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम के पास रहते थे । इनकी कविताओं के संग्रह का नाम 'आलमकेलि' है ।

आलम और उनकी रँगरेजिन पत्नी शेख की प्रेम कथा बहुत प्रसिद्ध है । यह दोनों की शादी के पहले की घटना है । आलम ने शेख रँगरेजिन को अपनी पगड़ी रंगने दी । उस पगड़ी के एक छोर में एक कागज में कविता की निम्नलिखित पंक्ति लिखी थी जिसकी पूर्त्ति आलम ने किसी दूसरे समय के लिए छोड़ दी थी—

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन'

शेख ने जब उसे पढ़ा तो उसकी पूर्त्ति निम्नलिखित पंक्ति जोड़ कर कर दी—**'कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धर दीन'** । तब शेख और आलम में परस्पर प्रेम हो गया । परिणाम स्वरूप आलम मुसलमान हो गये और दोनों की शादी हो गई । इनके जहान नाम का एक पुत्र भी हुआ । शायद इन दोनों की सम्मिलित रचनाएँ 'आलम केलि' में संग्रहीत हैं । ये रचनाएँ विशेषकर फुटकल कविताओं के रूप में ही हुई हैं और बड़ी सरस और प्रमोन्मत्तता से भरी हुई हैं ।

आलम ने रीति परंपरा में फँस कर रचना नहीं की। ये प्रेम के दीवाने कवि थे। यही कारण है कि इनकी प्रेम-सम्वन्धी कविताएँ वड़ी ही मर्मस्पर्शी वनी हैं। प्रेम में व्याकुल हृदय की वड़ी ही सुन्दर झलक इनमें देखने को मिलती है। दोनों कृष्ण के भक्त थे। उत्प्रेक्षा का वड़ा सुन्दर प्रयोग होने पर भी अलंकार के लिए अलंकार के प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमें नहीं पाई जाती। इनकी रचनाओं में तन्मयता का अंश वहुत अधिक है। इन्होंने उर्दू में भी कुछ लिखा है। इनकी व्रजभाषा वड़ी मंजी हुई और मधुर है किंतु कहीं कहीं पूरवी और फारसी का पुट मिलता है। आलम और शेख दोनों ही प्रेम के उच्च कोटि के कवि थे। इन्हें रसखान और घनानंद की कोटि में रखना अनुचित न होगा। एक उदाहरण देखिये—

जा थल कीने विहार अनेकन ता थल काँकरी वैठि चुन्यो करें।
जा रसना सों करी वहु वातन ता रसना सों चरित्र गुन्यों करें॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यों करें।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें॥

शेख की कविता में वर्णन की वास्तविकता और आलम की रचनाओं में शृंगारी कवियों की ऐन्द्रिकता और प्रेम-तत्परता है। भाव की रमणीयता के साथ साथ उक्ति की रमणीयता भी है और अनुभूति की उत्तेजना के साथ साथ हृदय और कहीं कहीं आत्मा की पीर देखते ही वनती है।

गुरु गोविन्द सिंह—इनके जन्म और मृत्यु सं० १७२३ और १७६५ हैं। ये सिक्खों के दसवें और अंतिम गुरू थे। इनके पिता का नाम गुरु तेग वहादुर था और इनका जन्म पटना में हुआ था। इतिहास का थोड़ा सा भी ज्ञान रखने वाले लोग इस प्रसिद्ध हिन्दू धर्म और जाति-रक्षक वीर के कार्यों से परिचित हैं। इन्होंने सिक्ख जाति का संग-

ठन कर के मुसलमानी अत्याचार के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द की। ये स्वयं भी एक वहादुर सिपाही थे। इसके अतिरिक्त ये वड़े ही विद्या-प्रेमी थे। ये संस्कृत और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे और हिन्दी में कविता करते थे। गुरुमुखी के अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी इन्होंने रचना की है। 'चण्डी चरित्र' इनके काव्यों में सब से अच्छा बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त सुनीति प्रकाश, ज्ञानबोध, प्रेम, सुमार्ग, बुद्धि-सागर, विचित्र नाटक और ग्रंथ साहव के कुछ अंश भी इनके लिखे हुए हैं। गोविन्द सिंह हिन्दू संस्कृति के एक उद्धारक और त्राणकर्ता थे।

लाल—इनका पूरा नाम गोरेलाल पुरोहित था। ये बुंदेल-खंड के निवासी थे। इन्होंने अपने 'छत्र प्रकाश' नामक ग्रंथ में पन्ना के इतिहास-प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल का जीवन-चरित दोहे-चौपाइयों में वर्णन किया है। इसमें वर्णित घटनायें इतिहासानुमोदित हैं। इनका विषय वड़ा ही प्रभावपूर्ण है। संवंध का निर्वाह, मार्मिक स्थलों की पहचान आदि प्रवन्ध काव्य की कुछ आवश्यक वातों का ज्ञान इस कवि को पूर्ण रूप से था। इसी से अपनी प्रवन्ध रचना में वड़ी पटुता दिखाई है। इस दृष्टि से हिन्दी के इने गिने प्रवन्धकर्त्ताओं में इनकी गणना की जाती है। भाषा और भाव दोनों में किसी प्रकार का आडंवर अथवा कृत्रिमता नहीं पाई जाती। व्यर्थ के उक्ति वैचित्र्य और कल्पना की उड़ान से कवि दूर ही रहा। छत्रसाल अपने काल के प्रधान लोकनायकों में थे। अतः 'छत्र प्रकाश' का साहित्य की दृष्टि से तो महत्व है ही, इतिहास की दृष्टि से भी यह काव्य वहुत उपयोगी है। एक और ग्रंथ 'विष्णुविलास' इनका रचा हुआ कहा जाता है। इनकी ब्रजभाषा में बुंदेलखंडी का पुट है। इनका 'छत्रप्रकाश' नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनकी कविता की कुछ पंक्तियां देखिये—

दान दया घमसान में, जाके हिये उछाह ।
सोई वीर बखानिये, ज्यों छत्ता छितिनाह ॥

जिनमें छिति छत्री छवि जाये । चारिहु युगन होत जे आये ॥
भूमि भार भुज दंडिन थम्भे । पूरन करें जु काज अरम्भे ॥
छत्रिन की यह वृत्त बनाई । सदा जंग की खाय कमाई ॥
गाय वेद विप्रन प्रतिपालैं । घाउ ऐंड़िधारन पर घालैं ॥

घनानंद—आचार्य शुक्ल जी ने इन्हें रस की मूर्ति और वृजभाषा काव्य का एक प्रधान स्तंभ माना है। इनका जन्म सं० १७४६ के लगभग अनुमान किया जाता है। ये कायस्थ जाति के थे और निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव मतावलंबी थे। नादिरशाह के आक्रमण के समय सं० १७९६ में कुछ आततायियों ने इन्हें मार डाला। इनकी मृत्यु का कारण था इनका दिल्ली के बादशाह मीरमुहम्मदशाह का मंत्री होना। एक बेअदबी के कारण बादशाह ने इन्हें दिल्ली के बाहर निकाल दिया। अपनी प्रेमिका सुजान वेश्या से भी इन्हें निराश होना पड़ा। ये विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे। नादिरशाही आक्रमण के समय कुछ सिपाहियों ने बादशाह का मीर मुंशी जान कर धन-प्राप्ति के लालच से इन्हें आ घेरा। अंत में धन न मिलने के कारण क्रोध में आकर इनके हाथ काट दिये।

घनानंद जी प्रथम कोटि के गायक और कवि थे। रीतिकाल में होने वाली श्रृंगार की मुक्तक कविता के क्षेत्र में इन्होंनें एकच्छत्र राज्य किया। इनका सब से प्रसिद्ध ग्रंथ सुजान-सागर है।

इनके समान सरस, शुद्ध, प्रौढ़ और प्रभावशालिनी व्रजभाषा और कोई कवि न लिख सका। इन्होंने प्रधान रूप से वियोग श्रृंगार पर अपनी लेखनी उठाई है। जैसा कि स्व० शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा

है, प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। इनकी प्रत्येक पंक्ति में हृदय की हूक छिपी है। इनकी कविताओं में 'सुजान' शब्द का निरंतर प्रयोग हुआ है पर वह कृष्ण के अर्थ में समझना चाहिए। घनानंद की कलम ने रीतिकालीन शृंगारिक कविता को अधिक अन्तर्मुखी बना दिया। सवैया इन्होंने बहुत ही अच्छे लिखे हैं। सुजान-सागर के अतिरिक्त विरह लीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड भी इन्हीं के रचे हुए हैं। अंतिम समय में घनानंद जी यद्यपि भगवतप्रेम की ओर विशेष रूप से झुके थे, पर उनकी अधिकांश कविता शृंगार रस के अंतर्गत ही आयगी।

कुलकानि छोड़ कर पार्थिव प्रेम की उपासना करने वाले इस कवि ने वृजभाषा काव्य में एक नई धारा बहाई जिसे ठाकुर, बोधा, भारतेन्दु हरिश्चन्द ने बल प्रदान किया। 'नेह की पीर' और बेचैनी इन्होंने बड़े उच्छ्वासपूर्ण स्वर में मुखरित की। पावस के धुंधले प्रभात जैसे दुख और विषाद की पृष्ठ-भूमि पर यह प्रेम की कसक खूब खिलती है। सवैया छंद लिखने में ये बेजोड़ हैं। हृदय का और आत्मा का सौन्दर्य आप से आप इनकी कविता में झलक उठता है। उदाहरण देखिये—

तब तो दूर दूरहि ते मुसकाय बचाय कै और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी रचाय कै नैनन में सरसै॥
अब तो उर माँहि बसाय के मारत एजू बिसासै कहाँ धौं बसे।
कछु नेह निवाहन जानत है तो सनेह की धार में काहे धंसे॥

उर्दू में जो स्थान मीर का है—वही हिन्दी में इनका माना जायगा।

नागरीदास—ये कृष्णगढ़ (राजपुताना) के राजा थे। इनका यथार्थ नाम सावंतसिंह है। नागरीदास इनका कविता का उपनाम था।

इनका जन्म सं० १७५६ है। इन्होंने भक्ति रस की बहुत अच्छी कविता की है। इनकी पत्नी भी कविता करती थी। कौटुंबिक झगड़ों से तंग आकर ये विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे थे। सं० १८२१ में इनकी मृत्यु हुई। इन्होंने भक्तिरस के लगभग ७३ ग्रंथों की रचना की। कहीं कहीं सुन्दर और नवीन भावों की व्यंजना है। इनके रचे ७३ ग्रन्थों को विभिन्न वर्णनों के लिये लिखे गये छन्दों के छोटे छोटे संग्रह समझना चाहिये। फारसी कविता की मादकता और सूफी भावधारा का प्रभाव भी इन पर है। गाने के पदों के अतिरिक्त अनेक छन्दों का उपयोग इन्होंने किया है।

जोधदास—इन्होंने हम्मीर रासो की रचना की। ये वीर रस के अच्छे कवि थे और इन्होंने अपने रासो में प्रायः छप्पय छंद का ही प्रयोग किया है। कवि ने कुछ घटनाओं की कल्पना भी की है।

गिरिधर कविराय—इनका जन्म सं० १७७० अनुमान किया जाता है। इनकी बनाई हुई नीति की कुंडलियाँ बड़ी लोकप्रिय हुईं। इनकी भाषा की जाँच करने पर यह अनुमान होता है कि इनका जन्म अवध के किसी स्थान में हुआ था। कहा जाता है कि इनकी स्त्री ने भी कुछ कुंडलियों की रचना की है। अनुमान से 'साइँ' शब्द से आरंभ होने वाली कुंडलियाँ गिरिधर की पत्नी की रची हुई हैं। इनकी कविता में जीवन के अनुभवों का मर्म भरा होता है। एक उदाहरण देखिये—

सोना लादन पिय गये, सूना करि गये देश।
सोना मिले न पिय मिले, रूपा ह्वै गये केश॥
रूपा ह्वै गये केश, रोय रँग रूप गँवावा।
सेजन को बिसराम, पिया बिन कबहूँ न पावा॥
कहे गिरधर कविराय, लोन बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव, कहा करिहौं लै सोना॥

उक्ति चमत्कार इनकी कविता का प्राण है और इनकी लोकप्रियता का रहस्य।

गुमान मिश्र—इनके जन्म मरण के संवत् का ठीक ठीक पता नहीं लगता। इन्होंने अली अकबर खां के कहने पर श्री हर्ष के नैषध का विभिन्न प्रकार के छंदों में अनुवाद किया। ये संस्कृत के अच्छे जानकार होने के बावजूद नैषध के अच्छे अनुवाद में विशेष सफल न हो सके। वैसे स्वयं में यह प्रबन्ध काव्य सुन्दर बन पड़ा है। कहीं कहीं अनुवाद मूल से अधिक जटिल हो गया है। इसके अतिरिक्त कृष्णचंद्रिका, छंदावली और रस रहस्य भी इनके द्वारा रचित माने जाते हैं। भाषा पर इनका पूरा अधिकार था।

सूदन—ये मथुरा के रहने वाले थे और भरतपुर के महाराज सूरजमल इनके आश्रयदाता थे। इनके जन्म-मरण के संवत् का पता नहीं लगता। इनके सुजान-चरित्र नामक ग्रंथ में सूरजमल के जीवन काल के युद्ध तथा अन्य घटनाओं का वर्णन है। सूदन वीर रस की कविता में बहुत सफल हुए हैं। भूषण और लाल के बाद इनका ही नाम लेना पड़ता है। इनकी भाषा में ब्रजभाषा और खड़ी बोली का मिश्रण मिलता है। इन्हें अपने प्रबंध काव्य के प्रधान चरित्र के लिए एक सच्चा वीर चरित्र-नायक मिल गया। सुजान चरित्र पर चारण और भाटों की रचनाओं का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भाषा के साथ कवि ने कहीं कहीं अवाँछनीय स्वाधीनता ली है। जहाँ देखो वहाँ कवि चतुरता का प्रदर्शन करना चाहता है। वीर काव्य की रचना के लिये या लोकवीर की चरित्र सृष्टि के लिये जिस गंभीरता की आवश्यकता है वह कवि में नहीं। डिंगल भाषा के शब्दों की प्रचुरता और उसी शैली की शब्द योजना है। भिन्न भिन्न छन्दों का वर्णन होने के कारण एक-एक अध्याय एक एक जंग है।

ब्रजवासीदास---इनका जन्म सं० १७९० के आस पास अनुमान किया जाता है। इनका ब्रजविलास प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें भगवान कृष्ण की ब्रजलीला का वर्णन दोहे चौपाइयों में किया गया है। कवि ने इसे तुलसीकृत रामायण के आदर्श पर रचने का प्रयत्न किया है। किंतु साहित्यक दृष्टि से रामायण और ब्रजविलास की कोई तुलना नहीं। हाँ कृष्णभक्तों में अवश्य इस ग्रन्थ का खूब प्रचार है। कुछ पंक्तियाँ देखिये---

ठाढ़ी अजिर जसोदा रानी। गोदी लिये शाम सुखदानी॥
उदय भयो ससि सरस सुहावन। लागी सुत को मात दिखावन।
देखहुँ स्याम चंद यह आवत। अति सीतल दृग ताप नसावत।
चित रहे हरि एक टक ताही। करते निकट बुलावत ताही॥

बोधा---इनका प्रथम नाम वुद्धिसेन था। कोई इन्हें राजापुर और कोई फिरोजावाद का निवासी वताता है। पर ये वोधा शायद हैं राजापुर के ही थे। इनके जन्म-मरण की तिथि के संवंध में कुछ ज्ञात नहीं। शिवसिंह सरोज के अनुसार ये सं० १८०४ में पैदा हुए थे।

ये पन्ना दरबार में बहुत सम्मानित थे। संस्कृत और फारसी के भी अच्छे जानकार थे। पन्ना नरेश की एक वेश्या से इनका कुछ संवंध हो जाने के कारण ये ६ माह के लिए राज्य से निकाल दिये गये। जलावतनी में इन्होंने विरह-वारीश की रचना की। लौट कर इन्होंने यह ग्रंथ जव पन्ना नरेश को सुनाया तो वे इतने प्रसन्न हुए कि उस वेश्या को इनके हवाले कर दिया। 'इश्कनामा' इनका दूसरा ग्रंथ है।

वोधा वड़े ही प्रेमी कवि थे। इनका काव्य सागर प्रेम की तरंगों से तरंगित है।

दीनदयालगिरि---ये सन्यासी थे और काशी में रहा करते थे। इनके जन्मादि के वारे में भी कुछ नहीं मालूम होता। इनकी कविता

से मालूम पड़ता है कि ये बड़े ही उदार हृदय के व्यक्ति थे। इनका स्व ाव बड़ा ही विनोदी था। इनकी लोकोक्तियाँ भी बहुत लोकप्रिय हुई। इन्हें तत्कालीन काशी-नरेश से कुछ आर्थिक सहायता भी प्राप्त होती थी। विजयानन्द त्रिपाठी के मतानुसार ये सं० १९२२ में गोलोकवासी हुए। ये काफी दिनों तक जीवित रहे। इनके लिखे हुए पाँच ग्रंथ कहे गये हैं—अनुराग बाग, दृष्टांत तरंगिणी, अन्योक्ति-माला, वैराग्यदिनेश और अन्योक्ति कल्पद्रुम।

ऊपर वर्णित कवियों के अतिरिक्त इस काल में और भी कवि हुए जिन्होंने अलग अलग विषयों पर सुन्दर काव्य रचना की है। पर स्थाना-भाव के कारण हम केवल उनका नाम देकर ही संतोष करते हैं।

महाराजा विश्वनाथ सिंह (१७७८), बख्शी हंसराज (१७९९) भूपति (१८३१). चाचा हित वृन्दावनदास, (१७६५), भगवन्त-राय खीची, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, (१८४०)। रामचन्द्र (१८४०), मधुसूदनदास (१८३९), नवलसिंह कायस्थ (१८७३), रामचन्द्र, रामसहायदास (१८६०), पजनेस (१९००), ठाकुर (१८५०) और चंद्रशेखर (१८५५)।

आधुनिक काल

संवत् १९००––२०००

गद्य का आरंभिक विकास

आधुनिक काल को गद्य युग भी कहा जाता है। प्रत्येक साहित्य के या जातीय जीवन के प्रारंभिक काल में पद्य की प्रवृत्ति विशेष रूप में देखी जाती है पर प्रौढ़ावस्था आते ही गद्य का विकास प्रारम्भ हो जाता है। साहित्य रचना की दृष्टि से गद्य में लेखक को अधिक सुविधा और स्वाधीनता है। दैनिक सामाजिक और पारिवारिक जीवन में उसे विचार विनिमय के लिये गद्य का ही आश्रय लेना पड़ता है। विश्व-साहित्य में आज गद्य असंख्य शक्तिवान लेखकों के व्यक्तित्व से अनुप्राणित होकर अभिव्यक्ति का प्रभावशाली माध्यम बन गया है। एक अँगरेज लेखक का कथन है कि कविता अपेक्षाकृत अपरिपक्व युग या मन की उपज है। इसीलिये उसमें वैयक्तिकता और भाव-प्रवणता अधिक रहती है। कविता व्यक्ति की जातिगत मूल प्रवृत्तियों को विशेष कौशल से व्यक्त करती है। गद्य उसे सामाजिक पात्र के रूप में चित्रित करता है। आज के संघर्ष-प्रधान सामाजिक युग की मुख्य प्रवृत्ति गद्य है। बड़े से बड़े कवि को भी आज गद्य लिखे बिना अपनी रचना अधूरी लगती है। कारण इस युग के आरंभ होते होते सामाजिक, सांप्रदायिक, राज-नीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो हलचल मची—जो परिवर्तन हुए, उनकी झलक और सजीव चित्रण के लिये गद्य का विकास अनिवार्य था। साहित्य के तत्त्व सदैव जीवन से आते हैं। जैसे जैसे जीवन की वास्त-विकता जटिल होती जायगी वैसे वैसे उसकी अभिव्यक्ति के साधन भी

बढ़ते जायंगे। शिक्षा के प्रचार और लोक जागृति के प्रसार के साथ-साथ जनता की रुचि भी राजनीतिक अभिज्ञता, धार्मिक चेतना और सामाजिक प्रकाश की ओर जाती है। राजा लक्ष्मण सिंह के ही समय में हिन्दी गद्य की भाषा अपने भावी रूप और उसकी संभावनाओं का आभास दे चुकी थी। बाद में जो सशक्त प्रतिभाशाली लेखकों की परंपरा आई उसने उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित किया। आज हिन्दी गद्य की भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति इतनी बढ़ गई है कि उस में गंभीर से गंभीर और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रकट करने की क्षमता आ गई है। भाषा व्यवहार के विस्तृत क्षेत्र की ओर बढ़ी है। नये नये विचार नई नई भावनाओं के प्रवाह ने उसे विभिन्नता और बहु-रसता प्रदान की है। आगे हम खड़ी बोली गद्य के विकास के क्रम का उल्लेख करते हुए आधुनिक युग की साहित्य सृष्टि का परिचय देंगे।

१९०० के पूर्व हिन्दी साहित्य की भाषा ब्रजभाषा होने के कारण उस समय गद्य भी ब्रजभाषा में लिखा जाता था। संवत् १४०७ के आस-पास गद्य में लिखे हुए कुछ गोरखपंथी ग्रन्थ मिले हैं। इस गद्य को हम उस समय के ब्रज भाषा गद्य का नमूना मान सकते हैं। ब्रज भाषा का १४०० का प्राप्त यह पुराना रूप नीचे दिये अवतरण से स्पष्ट होगा :—

"श्री गुरु परमानंद तिनकों दंडवत है। हैं कैसे परमानंद, आनंद-स्वरूप है सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गायें तें सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है।"

इसके बाद भक्ति काल में कृष्णभक्ति शाखा के भीतर श्री वल्लभा-चार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठल नाथ कृत शृंगार-रस-मंडन नामक ग्रन्थ ब्रज-भाषा गद्य में प्राप्त होता है। तदुपरान्त चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता के दो गद्य ग्रन्थ ब्रज भाषा में और मिलते हैं। इन ग्रन्थों में वैष्णव भक्तों और आचार्य जी की महिमा

प्रकट करने वाली कथायें लिखी गयी हैं। नाभादास ने संवत् १६६० में अष्टयाम और १६८० में ओरछा के वैकुंठ मणि शुक्ल ने अगहन माहात्म्य और वैसाख माहात्म्य नाम के ग्रन्थ ब्रज भाषा गद्य में लिखे। सूरति मिश्र ने १७६७ में वैताल पचीसी नामक पुस्तक लिखी। पर इन ग्रन्थों के द्वारा गद्य के विकास पर कोई प्रभाव न पड़ा। साहित्य की रचना पद्यों में ही होती थी। यहीं ब्रजभाषा गद्य का प्रवर्तन रुक जाता है। आगे का गद्य लेखन काव्यों की अव्यवस्थित अशक्त टीकाओं द्वारा होता रहा जो संस्कृत टीकाओं की रूढ़ शैली पर लिखी जाती थीं। केशवदास की कवि प्रिया, रसिक प्रिया आदि पर सरदार कवि द्वारा लिखी गई टीकाएँ इस समय भी मिलती हैं। पर उनसे गद्य का कोई विकास नहीं परिलक्षित होता।

अब हम खड़ी वोली के गद्य पर आते हैं। खड़ी वोली का एक रोचक इतिहास है। मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में यह वोली जाती थी। इसके वाहर इसका प्रचार वहुत कम था। देश में जब मुसलमानों का आधिपत्य तथा प्रभाव वढ़ा तब उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी वोली को अपनाया। दिल्ली की खड़ी वोली व्यावहारिक भाषा हो चली। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में खुसरो ने ब्रजभाषा के साथ खड़ी वोली में भी पद्य और पहेलियाँ लिखी थीं। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का साधन मान कर इस भाषा को खूब उन्नत किया। जहाँ जहाँ वे फैलते गये इसे अपने साथ लेते गये। उन्होंने इसमें केवल अरवी फारसी के शव्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी वल्कि इसके व्याकरण पर भी फारसी अरवी व्याकरण का रंग चढ़ाया। खड़ी वोली के अनेक शव्द हिन्दी भाषी प्रान्तों की जनता में लोकप्रिय हो गये। धीरे धीरे कथावाचकों, महात्माओं और अन्त में लेखकों की रचनाओं में भी वे शव्द पहुँचे। इस प्रकार के गद्य का नमना संवत १५७२

के लगभग गंग भाट कृत 'चन्द छन्द वरनन की महिमा' नामकी पुस्तक में प्राप्त होता है। संवत् १७९८ में रामनिरंजन 'निरंजनी' का 'भाषा योग वशिष्ठ' गद्य ग्रन्थ प्राप्त होता है। आचार्य शुक्ल जी ने इसी ग्रन्थ को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और लेखक को प्रथम प्रौढ़ गद्य लेखक माना है। इस समय तक खड़ी बोली का गद्य शृंखला-बद्ध रूप में विकसित हो चुका था। संवत् १८१८ में (मध्य प्रान्त) बसवा निवासी दौलतराम ने पद्म पुराण का भावानुवाद कर के शिष्ट जनता में स्वाभाविक रूप में प्रचलित खड़ी बोली का रूप सामने रक्खा।

खड़ी बोली का प्रारंभिक विकास मुसलमानों के संपर्क से हुआ पर रीतिकाल के समाप्त होते होते अँगरेजों के संपर्क का भी उस पर प्रभाव पड़ा। इसी संपर्क ने हिन्दी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर किया। यहाँ जमते ही अँगरेज शासकों की इच्छा लोकभाषा के व्यवहारी रूप का परिचय प्राप्त करने की हुई। परिणाम स्वरूप फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के अध्यापक जान गिल क्राइस्ट ने संवत् १८६० में हिन्दी उर्दू में गद्य पुस्तकें तैयार करने की व्यवस्था की। तदनुसार लल्लू जी लाल ने 'प्रेम सागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक खड़ी बोली के श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखे। इसी समय मुंशी सदासुखलाल नियाज और सैयद इंशा अल्ला खाँ ने भी क्रम से 'मुन्तखबुत्तवारीख' और 'रानी केतकी की कहानी' लिख कर खड़ी बोली में गद्य ग्रन्थों का निर्माण किया। हम कह सकते हैं कि १७६० के लगभग खड़ी बोली के गद्य का आधुनिक विकास इन्हीं चार लेखकों द्वारा हुआ। आधुनिक हिन्दी की पहले पहल प्रतिष्ठा कर के उन्होंने ग्रन्थ रचना की चेष्टा की। यहीं से उर्दू और स्वतंत्र खड़ी बोली का अस्तित्व भी अलग अलग स्वीकार किया गया।

मुंशी सदासुख लाल—इनका जन्म संवत् १८०३ में और मृत्यु १८८१ में हुई। यह ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से चुनार (मिर्जा-

पूर) में नौकरी करते थे। इन्होंने उर्दू फ़ारसी में बहुत सी किताबें लिखी हैं और शायरी की है। संवत् १८७५ में इन्होंने मुन्तखबुत्त-वारीख नामक भगवद्भक्ति से पूर्ण पुस्तक लिखी। इन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है। दिल्ली के निवासी होते हुए भी इन्होंने हिन्दी के उस रूप को अपनी शैली में ग्रहण किया जो आगे चल कर साहित्यक भाषा के रूप में स्वीकृत हुआ। कारण ये साधु संतों के वीच रहते थे। इनकी भाषा शेष तीन लेखकों की अपेक्षा अधिक साधु है।

सैयद इन्शाअल्ला खाँ—ये उच्च कोटि के शायर थे। इनका जन्म मुर्शिदावाद में हुआ था। वंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मारे जाने पर ये दिल्ली चले आये और शाह आलम द्वितीय के दरबार में रहने लगे। संवत् १८५५ में लखनऊ चले आये और नवाब सआदत अली खाँ के दरबार में आने जाने लगे। 'रानी केतकी की कहानी' नामक ठेठ वोलचाल की भाषा में इन्होंने एक पुस्तक संवत् १८६० के लगभग लिखी जो लोकप्रिय हुई। इन्होंने अपनी भाषा को बाहर की वोली (अरबी, फारसी, तुरकी) गँवारी (व्रजभाषा अवधी आदि) और भाखा-पन (संस्कृत शब्दों का मेल) से मुक्त रखने की चेष्टा की है। पर फारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास कहीं कहीं—विशेषतः बड़े वाक्यों में आ ही गया है। इनकी शैली शुद्ध तद्भव शब्दों के प्रयोग के कारण सरल, सुन्दर, प्रवाहपूर्ण, मुहाविरेदार और आकर्षक है। उर्दू के सिद्ध-हस्त लेखक होने के कारण इन्हें वही सुविधा रही जो आगे चल कर प्रेम-चन्द को अपने गद्य में मिली। वोलचाल के चलते चटपटे नमूने इनकी भाषा में पग पग पर मिलते हैं।

लल्लूलाल जी—आगरे के रहने वाले गुजराती व्राह्मण थे। इनका जन्मकाल संवत् १८२० और मरणकाल १८८२ है। इन्होंने खड़ी वोली

गद्य में प्रेम सागर लिखा जिसमें भागवत दशम स्कंध की दशा का वर्णन है। अपने आने के पूर्व हिन्दी में गद्य का अस्तित्व न स्वीकार करने वाले अँगरेजों के कारण लल्लूलाल जी को भ्रमवश खड़ी बोली गद्य के जन्म-दाता होने का श्रेय मिल जाता है। इन्होंने अपनी भाषा में विदेशी शव्दों का पूर्ण वहिष्कार करने का यत्न किया है पर प्रेम सागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करि के, वुलाय, वुलाय करि के, वुलाय कर आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। कवित्वपूर्ण गद्य अधिक है—नित्य व्यवहार की भाषा कम। उर्दू में भी इन्होंने सिंहासन बत्तीसी, वैताल वत्तीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल आदि पुस्तकें लिखी हैं। हितोपदेश की कहानियों का संकलन इनकी पुस्तक 'राजनीति' में है जो व्रज भाषा गद्य में लिखी गयी है। लाल चन्द्रिका इनके द्वारा लिखी गई विहारी की सतसई की टीका है। भाषा की सजावट इन में पूरी है। मुहाविरों के प्रयोग कम हैं। आधुनिक गद्य के विकास क्रम में ये ऐतिहासिक स्थान के अधिकारी हैं।

सदल मिश्र—ये विहार निवासी थे। फोर्ट विलियम कालेज में ये भी काम करते थे। कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से इन्होंने 'नासिकेतोपख्यान' नामक ग्रन्थ लिखा। इन्होंने लोक-व्यवहार की भाषा की ओर विशेष ध्यान दिया है पर वह साफ सुथरी नहीं है। खड़ी बोली के व्यवहार की प्रधानता होने पर भी इनके ग्रन्थ में व्रजभाषा और पूर्वी बोली के शब्दों का यत्र तत्र प्रयोग हुआ है। 'प्रेम सागर' की भाषा और इसकी भाषा में बहुत अन्तर है। इसमें व्रजभाषा की परंपरागत काव्य पदावली का प्रयोग बहुत कम है।

संवत् १८८१ में जटमल की 'गोरा बादल की कथा' पुस्तक में खड़ी बोली के गद्य का नमूना प्राप्त होता है।

हिन्दी में गद्य की परंपरा एक साथ चलाने वाले इन चारों लेखकों में रचनाकाल की पूर्वता और भाषा की साधुता की दृष्टि से मुंशी सदासुख का शीर्ष स्थान है।

सम्वत् १९१४ के पहिले हिन्दी गद्य का रूप यहीं तक स्थिर हो कर रह गया। बीच का काल गद्य रचना की दृष्टि से प्रायः शून्य है। संवत् १९१४ के गदर के वाद यह परंपरा फिर प्रगति क्रम में बढ़ती है। इसके पूर्ण विकास के कई कारण थे। विदेशों से आई हुई क्रिश्चियन मत का प्रचार करने वाली धर्म संस्थाओं अथवा मिशनों ने हिन्दी में अपने कुछ धर्म ग्रन्थों, विशेषकर बाइविल का अनुवाद किया। यह अनुवाद भाषा की दृष्टि से वड़े महत्व का है। ईसाइयों ने तो अपने धर्म के प्रचार के लिये अपनाया पर हिन्दी गद्य का इस से अद्भुत विकास हुआ। ये अनुवाद शुद्ध हिन्दी में किये गये। उर्दूपन उससे वहुत दूर रक्खा गया। उपर्युक्त अनुवाद ग्रन्थों में ब्रज बोली के प्रयोगों का वहिष्कार कर मानो खड़ी बोली के आगामी प्रसार की पूर्व सूचना दे दी गई। छापेखानों के खुल जाने से हिन्दी की पुस्तकें शीघ्रता से बढ़ चलीं। ईसाई प्रचारक शुद्ध ठेठ हिन्दी में छाप छाप कर साहित्य वितरित करते थे। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के लिये स्थान स्थान पर स्कूल खुले। हिन्दी-उर्दू की पढ़ाई का प्रवन्ध होने के कारण वालकों के लिये सरल हिन्दी की पुस्तकों की माँग हुई। हिन्दी उर्दू का झगड़ा भी शुरू किया गया जो काशी के राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के समय तक चला आया। अन्त में राजा साहव के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई। स्कूलों में हिन्दी को स्थान मिला। राजा राममोहन राय ने वेदांत सूत्रों का हिन्दी अनुवाद कर के प्रकाशित कराया और साथ ही हिन्दी में वंगदूत पत्र का प्रकाशन भी किया।

अदालतों में हिन्दी तथा नागरी लिपि का ह्रास किया गया था।

हिन्दी विरोधी सरकारी स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई का विरोध करने लगे। मुसलमानों की ओर से सरकार को यह समझाया गया कि संयुक्त प्रान्त की भाषा एक मात्र उर्दू है। लेकिन देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता और उसका देश व्यापी प्रचलन अँगरेजों की दृष्टि में आ चुका था। वे देख रहे थे कि देश में हिन्दी अक्षरों का—वर्णमाला का प्रचार अधिकाधिक बढ़ रहा है। इसलिये शिक्षा-विधान में देश की असली भाषा हिन्दी को ही स्थान देना पड़ा। इस कार्य में राजा शिवप्रसाद ने बहुत प्रयत्न किया। उन्होंने अपने अनेक परिचित मित्रों से पुस्तकें लिखवाईं और स्वयं भी लिखीं। उनकी लिखी कुछ अच्छी हिन्दी मिलती हैं पर अधिकांश उनकी भाषा उर्दू प्रधान है। राजा साहब का जन्म संवत् १८८० और निधन संवत् १९५२ है।

ईसाइयों का चार कार्य बढ़ता जा रहा था। स्वामी दयानन्द ने एक ओर उसका विरोध किया और दूसरी ओर हिन्दू समाज को निर्बल बनाने वाली सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों पर भी कठोर प्रहार किया। स्वामी जी के ग्रन्थ देवनागरी लिपि में हैं। अपने आन्दोलन को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के लिये उन्हें जनता की भाषा का सहारा लेना पड़ा। स्वामी जी ने आर्य समाज की स्थापना की—हिन्दी भाषा को आर्य भाषा नाम दिया। उनके अनुयायी उपदेशकों ने—भजनीकों ने सारे देश में हिन्दी भाषा द्वारा प्रचार कार्य कर उसकी व्यापकता को और प्रबल कर दिया। युक्त प्रान्त के पश्चिमी जिलों और पंजाब में आर्य समाज के प्रभाव से हिन्दी गद्य का प्रचार तेजी से हुआ। स्वामी जी ने अपना प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में ही प्रकाशित कराया। वेदों का भाषान्तर भी उन्होंने संस्कृत हिन्दी दोनों में किया। इसी प्रकार पंजाब में पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने हिन्दी प्रचार के लिये अटूट उद्योग किया। पंजाब के सब छोटे-बड़े स्थानों में घूम घूम कर ये उपदेश और

वक्तृतायें देते—रामायण महाभारत आदि की कथायें सुनाते थे। हिन्दी गद्य में इन्होंने बहुत कुछ लिखा है। तत्वदीपक, धर्म-रक्षा, उपदेश संग्रह, शतोपदेश आदि धर्म पुस्तकों के अतिरिक्त भाग्यवती नाम का इनका एक सामाजिक उपन्यास है।

धार्मिक दृष्टि के साथ साथ शिक्षा की दृष्टि से पंजाब में हिन्दी के प्रचार का प्रबल आन्दोलन हुआ। वहाँ यह कार्य श्री नवीनचन्द्र राय कर रहे थे। संवत् १९२० और १९३७ के बीच नवीन बाबू ने भिन्न-भिन्न विषयों पर हिन्दी पुस्तकें तैयार कीं और अपने मित्रों से तैयार कराईं। ये समाज सुधारक थे और स्त्री शिक्षा के बड़े समर्थक थे। राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये इन्होंने समय समय पर कई पत्रिकायें निकालीं। उर्दू के प्रवेश से मुक्त शुद्ध हिन्दी गद्य के यह समर्थक थे। 'ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका' इन्होंने संवत् १९२४ में निकाली थी। हिन्दी में शिक्षा और साधारण ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी लेख लिखने की ओर भी इनका ध्यान गया था। विधवा विवाह व्यवस्था नामक पुस्तक भी इन्होंने लिखी। इनकी प्रेरणा से पंजाब में कई हिन्दी लेखक उस समय पैदा हुए जिनमें सुख दयाल शास्त्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का उल्लेख ऊपर आया है। संवत् १९१३ में यह शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। इनकी रची हुई पुस्तकों के नाम हैं—वर्णमाला, बालबोध, विद्यांकुर, वामामन रंजन, हिन्दी व्याकरण, भूगोल हस्तामलक, छोटा हस्तामलक भूगोल, इतिहासतिमिर नाशक, गुटका, मानव-धर्म-सार, सैंट फोर्ड ऐंड मार्टिन, सिखों का उदय और अस्त, स्वयं-बोध उर्दू, अँगरेजी अक्षरों के सीखने का उपाय, राजा भोज का सपना और वीर सिंह का वृत्तान्त। इन ग्रन्थों में से कई संग्रह मात्र हैं और अधिकतर राजा साहब के ही बनाये हैं। सर-

कारी नीति का पालन करते हुए और समय की आवश्यकताओं को देखते हुए इन्होंने अपनी भाषा को अरबी फारसी शब्दों से भर दिया है। इसके लिये उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। अदालत की भाषा उस समय उर्दू थी और वही सभ्यों की भाषा समझी जाती थी। हिन्दी का संस्कार अभी न हुआ था। उसमें ब्रज बोली, अवधी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का मेल था। राजा साहब भाषा को बोलियों के मेल से शुद्ध रखना चाहते थे। उन्होंने सरकार से प्रार्थना की थी कि वह हिन्दी उर्दू पाठ्य-पुस्तकों की भाषा को परस्पर निकट लाने का यत्न करे। हिन्दी के पक्ष में इसका फल अच्छा न हुआ। हिन्दी उर्दू की खाई को पाट कर हिन्दुस्तानी की सृष्टि उन्होंने करनी चाही। पर हिन्दी के उपासकों के बीच उनके विरोध की अनावश्यक प्रतिक्रिया हुई। राजा साहब प्रचलित और शुद्ध हिन्दी के विरोधी नहीं थे। राजा भोज का सपना और मानव धर्मसार नामक अपनी पुस्तकों में उन्होंने प्रवाहित हिन्दी की शैली का प्रयोग किया है। अनेक प्रकार की भाषा शैलियों का प्रयोग करते हुए भी राजा साहब का लक्ष्य ऐसी भाषा का निर्माण करना था जो हिन्दी उर्दू के बीच में रहे। उस समय वे अधिक विरोध पैदा भी न करना चाहते थे।

राजा साहब का अनुकरण शिक्षा विभाग के बाहर मुंशी देवी प्रसाद और देवकीनन्दन खत्री ने किया। उन्होंने केवल प्रचलित अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग कर हिन्दुस्तानी को रूप देने का प्रयत्न किया। शिक्षा विभाग के श्री वीरेश्वर चक्रवर्ती ने राजा साहब की शैली नहीं अपनाई। इसी समय हिन्दी में संस्कृत के शकुन्तला नाटक आदि का अनुवाद करने वाले राजा लक्ष्मण सिंह हुए। इनकी भाषा राजा साहब की भाषा के ठीक विरोध में उत्पन्न कही जा सकती है। लक्ष्मण सिंह जी उर्दू-फारसी के ज्ञाता हो कर भी इन भाषाओं के शब्दों के पूर्णतः बहिष्कार के समर्थक थे। इनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है और

वक्तृतायें देते—रामायण महाभारत आदि की कथायें सुनाते थे। हिन्दी गद्य में इन्होंने बहुत कुछ लिखा है। तत्वदीपक, धर्म-रक्षा, उपदेश संग्रह, शतोपदेश आदि धर्म पुस्तकों के अतिरिक्त भाग्यवती नाम का इनका एक सामाजिक उपन्यास है।

धार्मिक दृष्टि के साथ साथ शिक्षा की दृष्टि से पंजाब में हिन्दी के प्रचार का प्रबल आन्दोलन हुआ। वहाँ यह कार्य श्री नवीनचन्द्र राय कर रहे थे। संवत् १९२० और १९३७ के बीच नवीन बाबू ने भिन्न-भिन्न विषयों पर हिन्दी पुस्तकें तैयार कीं और अपने मित्रों से तैयार कराईं। ये समाज सुधारक थे और स्त्री शिक्षा के बड़े समर्थक थे। राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये इन्होंने समय समय पर कई पत्रिकायें निकालीं। उर्दू के प्रवेश से मुक्त शुद्ध हिन्दी गद्य के यह समर्थक थे। 'ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका' इन्होंने संवत् १९२४ में निकाली थी। हिन्दी में शिक्षा और साधारण ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी लेख लिखने की ओर भी इनका ध्यान गया था। विधवा विवाह व्यवस्था नामक पुस्तक भी इन्होंने लिखी। इनकी प्रेरणा से पंजाब में कई हिन्दी लेखक उस समय पैदा हुए जिनमें सुख दयाल शास्त्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का उल्लेख ऊपर आया है। संवत् १९१३ में यह शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। इनकी रची हुई पुस्तकों के नाम हैं—वर्णमाला, बालबोध, विद्यांकुर, वामामन रंजन, हिन्दी व्याकरण, भूगोल हस्तामलक, छोटा हस्तामलक भूगोल, इतिहासतिमिर नाशक, गुटका, मानव-धर्म-सार, सैंट फोर्ड ऐंड मार्टिन, सिखों का उदय और अस्त, स्वयं-बोध उर्दू, अँगरेजी अक्षरों के सीखने का उपाय, राजा भोज का सपना और वीर सिंह का वृत्तान्त। इन ग्रन्थों में से कई संग्रह मात्र हैं और अधिकतर राजा साहब के ही बनाये हैं। सर-

कारी नीति का पालन करते हुए और समय की आवश्यकताओं को देखते हुए इन्होंने अपनी भाषा को अरबी फारसी शब्दों से भर दिया है। इसके लिये उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। अदालत की भाषा उस समय उर्दू थी और वही सभ्यों की भाषा समझी जाती थी। हिन्दी का संस्कार अभी न हुआ था। उसमें ब्रज बोली, अवधी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का मेल था। राजा साहब भाषा को बोलियों के मेल से शुद्ध रखना चाहते थे। उन्होंने सरकार से प्रार्थना की थी कि वह हिन्दी उर्दू पाठ्य-पुस्तकों की भाषा को परस्पर निकट लाने का यत्न करे। हिन्दी के पक्ष में इसका फल अच्छा न हुआ। हिन्दी उर्दू की खाई को पाट कर हिन्दुस्तानी की सृष्टि उन्होंने करनी चाही। पर हिन्दी के उपासकों के बीच उनके विरोध की अनावश्यक प्रतिक्रिया हुई। राजा साहब प्रचलित और शुद्ध हिन्दी के विरोधी नहीं थे। राजा भोज का सपना और मानव धर्मसार नामक अपनी पुस्तकों में उन्होंने प्रवाहित हिन्दी की शैली का प्रयोग किया है। अनेक प्रकार की भाषा शैलियों का प्रयोग करते हुए भी राजा साहब का लक्ष्य ऐसी भाषा का निर्माण करना था जो हिन्दी उर्दू के बीच में रहे। उस समय वे अधिक विरोध पैदा भी न करना चाहते थे।

राजा साहब का अनुकरण शिक्षा विभाग के बाहर मुंशी देवी प्रसाद और देवकीनन्दन खत्री ने किया। उन्होंने केवल प्रचलित अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग कर हिन्दुस्तानी को रूप देने का प्रयत्न किया। शिक्षा विभाग के श्री वीरेश्वर चक्रवर्ती ने राजा साहब की शैली नहीं अपनाई। इसी समय हिन्दी में संस्कृत के शकुन्तला नाटक आदि का अनुवाद करने वाले राजा लक्ष्मण सिंह हुए। इनकी भाषा राजा साहब की भाषा के ठीक विरोध में उत्पन्न कही जा सकती है। लक्ष्मण सिंह जी उर्दू-फारसी के ज्ञाता हो कर भी इन भाषाओं के शब्दों के पूर्णतः बहिष्कार के समर्थक थे। इनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है और

ब्रजभाषा का भी पुट है। इन्होंने संवत् १९१९ में शकुन्तला नाटक का अनुवाद प्रकाशित कराया। संवत् १९३२ में विलायत के प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी पिनकाट महाशय ने इसे इँगलिस्तान में छपाया। संवत् १९३४ में राजा साहब ने रघुवंश का अनुवाद गद्य में मूल श्लोकों के साथ प्रकाशित किया। मेघदूत के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों का अनुवाद प्रकाशित कर इन्होंने ग्रन्थ पूर्ण कर दिया। संवत् १९१८ में इन्होंने 'प्रजा हितैषी' नाम का एक पत्र शुद्ध हिन्दी में निकाला। अपने अनुवादों में इन्होंने प्रायः सभी प्रचलित छन्दों का प्रयोग किया है जिसमें घनाक्षरी सवैया अधिक है। दोहा, सोरठा, चौपाइयों में इन्होंने तुलसीदास की भाषा रक्खी है—शेष छन्दों में ब्रजभाषा, आगरा के निवासी होने के कारण इनके गद्य पर भी ब्रजभाषा का प्रभाव दिखता है। पर इनकीभाषा मधुर और निर्दोषहै। इनका कविता काल संवत् १९१६ के इधर उधर है। जन्म संवत्. १८८३ में और स्वर्गवास १९५३ में हुआ।

सामाजिक हिन्दी जनता ने राजा लक्ष्मण सिंह की शैली को अधिक अपनाया। लेखकों ने संस्कृत शब्दों को ग्रहण किया—फारसी शब्दावली के घर घर प्रचलित रूप को छोड़ कर उससे बचने की चेष्टा की। वह एक प्रकार से अतिवाद का युग था। एक सीमान्त पर राजा शिवप्रसाद थे—दूसरे पर राजा लक्ष्मण सिंह। पर शैलियों की इस विभिन्नता ने हिन्दी के प्रचार और प्रसार को बल पहुँचाया। भाषा का स्वरूप अस्थिर था। उसके सर्वसम्मत स्थिरीकरण की आवश्यकता थी। ऐसे सशक्त व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो भाषा का परिपूर्ण परिमार्जन कर के उसे सुव्यवस्थित और बलवती बनाये। शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल साहित्य के विधान की भी आवश्यकता थी। इसी समय भारतेन्दु का क्रान्तिकारी उदय हुआ।

भारतेन्दु काल

प्रौढ़तर गद्य का प्रसार

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य क्षेत्र में आते ही हिंदी गद्य में अभूतपूर्व समुन्नति का युग आया। वे आधुनिक साहित्य के जनक के नाम से पुकारे जाते हैं। उनका प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर पड़ा। एक प्रकार से साहित्य की सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार उन्होंने खोला! उन्होंने राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के मध्य का मार्ग अपनाया। अभी तक खड़ी वोली के गद्य के विकास का समय था। पाठशालाओं या लोक जीवन की शिक्षा के अनुरूप छोटी छोटी पुस्तकें लिखी जाती थीं। भारतेन्दु का ध्यान साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों के परिवर्धन की ओर गया। लेखन शैली में उस समय विभिन्नता थी। घरों में प्रान्तीय वोलियों का चलन था। गद्य लेखन की कोई निश्चित नीति न थी। भारतेन्दु के सामने वहुत वड़ा कार्य था—एक पूर्ण परिष्कृत शैली का आदर्श स्वीकार कर हिन्दी के आन्दोलन को आगे वढ़ाना। भाषा-संस्कार के लिए किया गया उनका महान् कार्य हिन्दी के इतिहास में अमर है। उन्होंने दो प्रकार की भाषायें स्वीकार कीं। पहली संस्कृत शव्दों से पूर्ण और दूसरी शुद्ध हिन्दी। पर दोनों में ऐसे विदेशी शव्दों के प्रयोग हैं जो वोलचाल की भाषा में घुल-मिल गए हैं। मुहावरों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। विषयों के अनुसार भाषा का प्रयोग हरिश्चन्द्र की विशेषता है। गम्भीर विवेचन और तत्व निरूपण के लिए पहली प्रकार की भाषा का प्रयोग है। दूसरी प्रकार की भाषा अनेक शैलियों में व्यवहार में आई है। नाटकों में रस निष्पत्ति के लिए वोल-चाल की भाषा

व्यवहार में आई है। आचार्य शुक्लजी ने भारतेन्दु की दोनों शैलियों को भावावेश की शैली और तथ्य निरूपण की शैली का नाम दिया है। उस समय संस्कृत साहित्य के अनुवादों और आर्य समाज के आन्दोलन ने संस्कृत पदावली का अनावश्यक भार हिन्दी गद्य पर लाद रक्खा था, भारतेन्दु की रचना शैली में इस तत्समता के विरुद्ध प्रतिक्रिया मिलती है। भारतेन्दु के गद्य में स्थान स्थान पर ब्रजभाषा का प्रयोग और प्रभाव मिलता है। भाषा के स्वरूप की रचना की जो अभी तक भूमिका चली आ रही थी वह अब समाप्त हो गई। खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप स्थिर हुआ। भारतेन्दु का गद्य उस युग के लेखकों का आदर्श बना और वह सशक्त और सृजन की प्रेरणा स ओत-प्रोत आदर्श बना।

अब हम भारतेन्दु के साहित्य-सृजन और साहित्य-संरक्षण की प्रवृत्ति पर आते हैं। वे अतिशय धनी थे। लाखों रुपया उन्होंने हिन्दी के प्रचार और प्रसार में खर्च किया। इनका जन्म संवत् १९०७ भाद्रपद शुक्ल ७ को काशी में एक प्रतिष्ठित अग्रवाल कुल में हुआ। इनके पिता बाबू गोपालदास गिरिधरदास ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे। बचपन से हिन्दी में बड़े भावुक और काव्यानुरागी थे। प्रतिभा भी इनकी बड़ी प्रखर थी। काव्य-शास्त्र-विनोद और अध्ययन के प्रति तीव्र प्रवृत्ति थी। इनके व्यक्तित्व में एक प्रबल आकर्षण था और उस समय के लगभग सभी सुलेखक इनके संगठन में थे। प्राचीन भारतीय इतिहास और धार्मिक अनुश्रुतियों की ओर इनका ध्यान गया। इन्होंने अपने साहित्य द्वारा प्राचीन भारत की सच्ची परिस्थिति का पता लगाने और अपने नाटकों-उपन्यासों द्वारा उसका निर्माण करने की बराबर चेष्टा की। ये और इनके दल के समस्त लेखक समाज सुधार की तीव्र भावना से उत्प्रेरित थे। यही नहीं तत्कालीन जनता के जीवन का यथार्थ सजीव चित्रण भी इन लेखकों की कृतियों में देखने को मिलता है। इस अर्थ में भारतेन्दु ऊँचे से ऊँचे प्रकार के प्रगतिशील थे।

कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मेगजीन आदि कई मासिक पत्र इन्होंने निकाले। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से प्रेरित और प्रभावित होकर न जाने कितने नये नये लेखकों का उदय हुआ। नाटक, कहानी, काव्य, स्तोत्र, परिहास, इतिहास आदि सब मौलिक तो उन्होंने लिखे ही, बँगला से ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों का अनुवाद भी किया। इनकी लिखी पुस्तकों की संख्या १४० है। इनके नाटकों का सर्वसाधारण में खूब प्रचार हुआ। इन्हें भारतव्यापिनी कीर्ति मिली और जनता ने इन्हें भारतेंदु को उपाधि से विभूषित किया। इन्होंने छोटे छोटे निबंध भी लिखे। इनकी नाटक रचना शैली में भारतीय और पाश्चात्य शैलियों का सम्मिश्रण हुआ है। सत्य, प्रेम, स्वदेशानुराग आदि इनके नाटकों के कुछ विषय हैं। कथानक निर्माण कला का भी इन्होंने अच्छा परिचय दिया है। देश-प्रेम और जाति-प्रेम की व्यापक भावना तो जैसे भारतेन्दु के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्त है। पर पद्माकर और द्विज देव की परंपरा पर उन्होंने मधुर भावों से परिपूर्ण प्रेम और श्रृंगार की भिन्न भिन्न स्थितियों की वर्णना भी की है। इन्हें सच्चे अर्थ में युग प्रवर्तक का नाम दिया जा सकता है। इन्हीं के जीवन काल में हिन्दी अपना बाल्य काल समाप्त कर यौवन की प्रौढ़तर सशक्त जीवन भूमि पर आई। इनका निधन संवत् १९४२ में केवल ३५ वर्ष की अवस्था में हुआ।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—इस दल के अन्यतम प्रतिभाशाली लेखक-कवि थे। इनका जन्म संवत् १९१३ में हुआ और मृत्यु संवत् १९५१ में। ये भारतेन्दु को हर प्रकार से अपना गुरू और आदर्श मानते थे पर इनकी शैली में उनकी शैली से एक स्पष्ट भिन्नता लक्षित होती है। ये बड़े स्वतंत्र प्रवृत्ति के मनमौजी , फक्कड़ और जीवनमुक्त साहित्यिक थे। स्वभाव में विशेष प्रकार की विनोद-प्रियता होने के कारण इनकी शैली में एक व्यंगपूर्ण वक्रता है। गंभीर से गंभीर विषय को ये

मनोरंजक और हास्यपूर्ण ढंग से उपस्थित करने में कुशल थे। इनके पिता पं० संकठाप्रसाद मिश्र अच्छे ज्योतिषी थे। संस्कृत और फारसी दोनों में इनकी समान गति थी। इन्होंने 'ब्राह्मण' नामक एक मासिक पत्र निकाला जो अधिक चल न सका। कुछ दिन तक कालाकाँकर से निकलने वाले दैनिक 'हिन्दुस्तान' के संपादकीय विभाग में भी रहे। नाटकों की रचना करने के साथ साथ ये रंग मंच पर अभिनय भी करते थे। इनकी प्रकाशित पुस्तकों में राजसिंह, इन्दिरा, संगीत शाकुन्तल, कलि कौतुक रूपक, हठी हमीर, गो-संकट नाटक और श्रृंगार विलास मुख्य हैं। इनके फुटकल गद्य प्रबंध भी भावपूर्ण और साहित्यिक नोकझोंक से भरे हुए हैं। उर्दू में अच्छी कविता भी करते थे। कान्यकुब्ज होने के कारण इनकी रचनाओं में बैसवारी का प्रयोग काफी पाया जाता है। वे अलंकारों और काव्योपयोगी प्रयोगों से मुक्त हैं। इनकी शैली में एक चुलबुलापन है जो कहावतों और चुस्त मुहावरों के प्रयोग के कारण बढ़ गया है। निबंधों में इनकी शैली का एक विकास क्रम स्पष्ट परिलक्षित होता है। इनकी रचनाओं में झलकती हुई देश भक्ति, जाति प्रेम और संस्कृति के अभिमान की प्रशंसा करनी पड़ती है।

पं० बालकृष्ण भट्ट—भारतेन्दु मंडल के एक प्रमुख सदस्य थे। शब्दों के चुनाव, विचारों के प्रकाशन और नागरिकता के सम्बन्ध में ये अधिक सतर्क थे। इनका जन्म प्रयाग में संवत् १९०१ में और परलोक वास संवत् १९७१ में हुआ। ये प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे। संवत् १९३४ में इन्होंने प्रयाग से हिन्दी प्रदीप नामक एक सुन्दर मासिक निकाला जो ३२ वर्ष तक निकलता रहा। भट्ट जी ने बराबर उसका संपादन किया। सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, साहित्यिक सब प्रकार के गद्य प्रबंध ये अपने पत्र में लिखते रहे। शैली प्रतापनारायण जी की शैली से मिलती जुलती है। स्थान स्थान पर कहावतों और मुहा-

वरों की छटा है। पद्मावती, शर्मिष्ठा और चन्द्रसेन नामक उत्तम नाटक ग्रन्थ भी भट्ट जी ने लिखे हैं। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। आर्थिक संकटों में भी इन्होंने अपने हिन्दी प्रेम की ज्योति मंद नहीं पड़ने दी। इनके पत्र के द्वारा हिन्दी में अनेक नयी प्रतिभाओं का विकास हुआ। कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह नाटक, सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी आदि इनके लेख चमत्कारपूर्ण हैं। व्यंग और बाँकपन भी इनकी रचनाओं में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अंगरेजी और अरबी फारसी के शब्द ही नहीं बड़े बड़े वाक्य खंड तक इनकी रच-नाओं में मिलते हैं। इनके वाक्य कुछ बड़े बड़े होते थे और पूरबी प्रयोग भी रचना में बराबर मिलते हैं। पदविन्यास और शैली के निरालेपन की दृष्टि से ये हिन्दी लेखकों में अनोखा स्थान रखते हैं। इन्होंने गद्य साहित्य की एक लेखन शैली का निर्माण किया और तीव्र आलोचना की नींव डाली।

पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन'—मिर्जापुर जिले के एक प्रतिष्ठित सरयूपारी परिवार में पैदा हुए। जन्म संवत् १९१२ में और मृत्यु संवत् १९७९ में हुई। हिन्दी, संस्कृत, अँगरेजी, फारसी की इन्होंने ऊँची शिक्षा पाई। ये गद्य-पद्य के सिद्ध हस्त लेखक थे। उर्दू रचनाओं में अपना उपनाम 'अब्र' रखते थे। इनकी शैली सब से विलक्षण थी। गद्य रचना को ये कलम की कारीगरी या कला के रूप में ग्रहण करते थे। रचनाओं के परिमार्जन और परिष्कार में इनका अटूट विश्वास था। इनकी अनुप्रासमयी चुहचुहाती भाषा में कहीं शब्दाडम्बर और व्यर्थ का प्रदर्शन नहीं है। पर अलंकृत भाषा के बड़े पक्षपाती थे। अर्थ गाम्भीर्य और सूक्ष्म विचार शृंखला इनके निबन्धों की विशेषता है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में लखनऊ की उर्दू का आदर्श इन्होंने अपनी हिन्दी में उतारा। इन्होंने आनंद-कादंबिनी मासिक और 'नागरी नीरद' साप्ताहिक पत्र भी

निकाले। भारतेन्दु के ये घनिष्ठ मित्रों में से थे। विनोदपूर्ण प्रहसनों के लिए इनके मन में बड़ा आकर्षण था। इनके अभिव्यक्ति प्रकाशन में वड़ी प्रौढ़ता है। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ये सभापति भी हो चुके हैं। साहित्यालोचना का सूत्रपात एक प्रकार से भट्टजी और प्रेमघन ने ही किया। इसके पर्व आलोच्य पुस्तक के गुण दोषों का विस्तृत विवेचन न होता था। 'प्रेमघन सर्वस्व' नाम से दो भागों में आपकी श्रेष्ठ गद्य-पद्य रचनाओं का संग्रह सम्मेलन ने प्रकाशित किया है। अपनी रंगीन लहजे भरी भाषा के कारण ये बड़े लोकप्रिय शैलीकार हैं। इन्होंने कई नाटक भी लिखे हैं। पर उनमें पात्रों की अधिकता और प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं के प्रयोग के कारण उनका अभिनय अत्यन्त कठिन है।

लाला श्री निवासदास—का जन्म संवत् १९०८ में और मृत्यु संवत् १९४४ में हुई। भारतेन्दु के समसामयिक लेखकों में ये विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्रह्लाद चरित्र, तप्ता संवरण और रणधीर और प्रेममोहिनी ये तीन नाटक लिखे। इनमें अंतिम अधिक प्रसिद्ध हुआ। इनका परीक्षा गुरू उपन्यास शिक्षाप्रद है। इनकी भाषा बोलचाल की और मुहावरों के प्रयोग से निखरी हुई है। व्यवहार कुशल और संसारी बुद्धि में दक्ष होने के कारण इनकी भाषा में नपी तुली व्यवस्था और रचना में उद्देश्य की भावना है। इन्होंने नाटकों में पात्रों के अनुरूप भाषा रखने के प्रयत्न में उसे घोर उर्दू बना दिया है। इसीलिए इनकी रचनाओं में भाषा सौष्ठव कम है। दिल्ली की उर्दू शैली के प्रभाव से बचना इनके लिए कठिन भी था। इनके नाटक रंगशाला के उपयुक्त नहीं हैं। शब्द चयन में कोमलता और मधुरता की ओर इन्होंने विशेष ध्यान दिया है।

ठाकुर जगमोहनसिंह—मध्यप्रदेशके विजय राघवगढ़ के राजकुमार थे। इनका जन्म संवत् १९१४ और मृत्यु संवत् १९५६ है। शिक्षा के लिए काशी में रहते हुए ये भारतेन्दु के संपर्क में आये। वहीं से इन्हें हिन्दी

की ओर अनुराग और साहित्य सेवा की रुचि उत्पन्न हुई। इनका स्वभाव भारतेन्दु जैसा ही था। उस पर रियासत की वैसी ही छाप थी। गद्य रचना के साथ साथ प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण करने वाली कवितायें भी ये लिखते थे। संस्कृत और अँगरेजी के अच्छे जानकार होने के कारण इनकी लेखनी में एक नैसर्गिक संस्कारशीलता थी। भारतीय ग्राम्य जीवन का प्राकृतिक माधुर्य और प्रसन्न प्रभाव भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि के साथ साथ इनकी रचनाओं में बड़े मनोरम रूप में चित्रित हुआ है। भारतेन्दु मंडल के लेखकों में इस दृष्टि से इनका स्थान विलकुल अलग है। अपने देश की वन्य माधुरी और रूप सम्पत्ति के लिए इनके मन में गहरी आत्मीयता थी। इनका श्यामा स्वप्न नामक उपन्यास प्रकृति निरीक्षण, सौन्दर्यांकन और कवित्वपूर्ण भाषा की दृष्टि से वेजोड़ है। कल्पना विन्यास भी इनमें है और संस्कृत की गंभीर शव्दावली में ये ब्रज माधुरी घोल देते हैं। कहीं कहीं भावावेश की प्रवलता एक विलक्षणता पैदा कर देती है। भाषा सौष्ठव और गति इनकी शैली की विशेषता है। वड़ा प्रेमी और सौन्दर्य-पूजक हृदय इन्होंने पाया था। इतनी कम अवस्था में इनका देहान्त न हो जाता तो इनकी शैली पूर्णतर होकर अधिकाधिक रूपविधान की ओर जाती।

राधाचरण गोस्वामी—का जन्म संवत् १९१५में हुआ। ये ब्रजभाषा के सुकवि और खड़ी वोली के सुलेखक थे। संस्कृत के उच्च कोटि के जानकार थे। हरिश्चन्द्र मेगजीन के पाठक होने के कारण इनमें देशभक्ति और समाज सुधार के भाव जगे थे। इनमें समाज सुधार का उत्साह था और सभा समाजों में ये वरावर भाग लेते थे। हिन्दी की उन्नति और साहित्य सेवा के लिए इन्होंने भारतेन्दु मासिक पत्र का प्रकाशन किया और कई संस्थायें स्थापित कीं। इनकी सुगठित भाषा शुद्ध संस्कृतमय होते हुए भी ब्रजभाषा से प्रभावित थी। भारतेन्दु मंडल के ये प्रमुख सदस्य थे। इन्होंने

कई उतम मौलिक नाटक लिखे हैं जैसे सुदामा नाटक, सती चंद्रावली, अमर सिंह राठौर, तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण। कल्पित और ऐतिहासिक दोनों प्रकार के नाटक इन्होंने लिखे हैं। नाटकों के अतिरिक्त इन्होंने तीन बँगला उपन्यासों के अनुवाद किये और कुछ साहित्यिक और समाज सुधार संबंधी पुस्तकों की रचना भी की। संवत् १९८२ में इनका देहान्त हुआ।

बाबू तोताराम—का जन्म संवत् १९०४ और मृत्यु संवत् १९५९ है। हेडमास्टरी की नौकरी छोड़ कर इन्होंने अलीगढ़ में प्रेस खोल भारत बंधु नामक पत्र निकाला। हिन्दी के आन्दोलन के ये सबल समर्थक और क्रियाशील कार्यकर्ता थे। भारतेन्दु का इन्होंने बराबर साथ दिया। 'भाषा संवर्द्धिनी' नाम की एक सभा भी स्थापित की। केटो-वृत्तान्त, कीर्तिकेतु (नाटक), स्त्री सुबोधिनी आदि इनके ग्रन्थ हैं। भाषा में कोई साहित्यिक विशेषता नहीं है पर वह सरल और शुद्ध है। अपनी पुस्तकों की आय ये हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए स्थापित अपनी सभा को दे दिया करते थे। वाल्मीकि रामायण का पद्यानुवाद भी इन्होंने किया था।

पं० अम्बिकादत्त व्यास—का जन्म संवत् १९१५ और मृत्यु संवत् १९५७ में हुई। ये उच्चकोटिके संस्कृतके विद्वान् तथा कट्टर सनातनधर्मी थे। आर्य समाज के कट्टर विरोधी थे और सनातनधर्म संबंधी इनका उत्साह इनके उपदेशों और व्याख्यानों में प्रकट होता था। दयानन्द पाषंड खंडन, अवतार मीमांसा, मूर्ति पूजा आदि पुस्तकों में धार्मिक प्रतिपादन है। ये लेखक वक्ता दोनों थे। आश्चर्य वृत्तान्त इनका सुन्दर उपन्यास है। पावस पचासा, गद्य काव्य मीमांसा, विहारी विहार, गो-संकट नाटक आदि इनके अन्य ग्रन्थ हैं। व्रजभाषा के ये अच्छे कवि थे। व्रजभाषा में कृष्ण लीला को लेकर इन्होंने 'ललिता' नाटिका लिखी थी। कहते हैं इनकी पुस्तकों की संख्या ७८ है। इनकी भाषा संस्कृत प्रधान है पर विषय प्रतिपादन की शैली

और क्षमता इनमें अपूर्व थी। भाषा में कहीं कहीं भव्यता और वाक्यों में लम्बाई है। अपने युग के मौलिक लेखकों में इनकी गणना है।

इन लेखकों के साथ और भी साहित्यिक और हिन्दी निर्माता हैं जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा हिन्दी की गद्य शैली के विकास में योग दिया और गद्य के विभिन्न अंगों को लेकर बड़े उत्साह के साथ मौलिक रचनायें लिखीं। इन सब की कृतियों में देश, संस्कृति और इतिहास के गौरवमय अतीत के लिए—धार्मिक परंपराओं के लिए आदर और जातीय गर्व है। इन सब को सच्चे अर्थों में हिन्दी का उन्नायक कहा जा सकता है।

मुंशी देवीप्रसाद (जन्म संवत् १९०४, निधन संवत् १९८०)
राजा रामपाल सिंह (जन्म संवत् १९८५, निधन संवत् १९६६)
बाबू गदाधर सिंह (जन्म संवत् १९०५, निधन संवत् १९५५)
रायबहादुर पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र (जन्म सं० १९०६, निधन संवत् १९६३)
बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री (जन्म सं० १९०८, निधन सं० १९६१)
पंडित भमिसेन शर्मा (जन्म सं० १९१०, निधन सं० १९७४)
पंडित केशवराम भट्ट (जन्म सं० १९११, निधन सं० १९६२)
रायबहादुर लाला सीताराम (जन्म सं० १९१५, निधन सं० १९९३)
पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र (जन्म सं० १९१६, निधन सं० १९६७)
बाबू रामकृष्ण वर्मा (जन्म सं० १९१६, निधन सं० १९६३)
महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी (जन्म सं० १९१७, निधन संवत् १९६७)
बाबू शिवनन्दन सहाय (जन्म सं० १९१७, निधन सं० १९८९)
बाबू देवकीनंदन खत्री (जन्म सं० १९१८, निधन सं० १९७०)
पंडित लज्जाराम मेहता (जन्म सं० १९२०, निधन सं० १९८८)

ये सब नाम इतिहास की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही, साहित्य को इन्होंने सरसता और विविधता प्रदान की। इसी प्रकार राधाकृष्णदास, काशीनाथ खत्री, मोहनलाल विष्णु लाल पंडया, फ्रेडरिक पिन्काट आदि के नाम भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। राधाकृष्णदास नाटककार की दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखते हैं। अपनी व्यवस्थित वस्तु योजना की दृष्टि से बँगला के कई उपन्यासों के अनुवाद भी उन्होंने किए हैं। पत्रकारों में बालमुकुन्द गुप्त सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। सात वर्ष बंगवासी का सम्पादन कर के ये भारतमित्र के जीवन पर्यन्त संपादक रहे। रत्नावली नाटिका, हरिदास, शिवशंभु का चिट्ठा, स्फुट कविता, खिलौना आदि आपकी रची लोकप्रिय पुस्तकें हैं। इनका गद्य पद्य दोनों बड़ा मनोरंजक और शिक्षाप्रद होता था। पत्र पत्रिकाओं और साहित्यिक संस्थाओं की स्थापना की दृष्टि से भी भारतेन्दु काल पर्यात उन्नत था। साहित्य के विकास से भाषा के प्रसार की आशाप्रद प्रेरणा और उत्साह वर्धक लहर चारों ओर फैली थी। साहित्य के सब अंगों की उन्नति हो चली थी। प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे अच्छे लेखकों का उदय हो रहा था। दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र निकल रहे थे जिनमें शैली और विषय दोनों दृष्टियों से उच्चकोटि के लेख प्रकाशित होते थे। आरम्भिक काल में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'बनारस अखबार', तारामोहन मित्र का 'सुधाकर', पंडित बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' प्रमुख स्थान रखते थे। आगरा से मुंशी सदासुख लाल का 'बुद्धि प्रकाश' निकलता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्यिक और सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण करते ही 'कवि वचन सुधा' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'बालाबोधिनी' का प्रकाशन किया। संवत् १९२८ में पंडित सदानंद मिश्र ने 'अल्मोड़ा अखबार' का संपादन और प्रकाशन किया। यह साप्ताहिक पत्र था। बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने इसी समय साप्ताहिक हिन्दी दीप्ति प्रकाश और प्रेम विलासिनी पत्रिका निकाली।

कलकत्ते में भारतमित्र की स्थापना हुई जिसमें पं० दुर्गा प्रसाद मिश्र, पंडित छोटूलाल मिश्र, बाबू जगन्नाथ खन्ना और पंडित सदानंद मिश्र का हाथ था। अनेक वर्षों तक यह निकलता रहा। परन्तु सब से महत्वपूर्ण पत्र कालाकाँकर से प्रकाशित होने वाला दैनिक 'हिन्दुस्तान' था। इसके संचालक देशभक्त राजा रामपाल सिंह थे। उस समय के कई महारथियों ने (महर्षि मालवीय जी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित प्रताप नारायण मिश्र) इसका संपादन किया। संवत् १९४२ में यह निकला था। काशी से निकलने वाला बाबू रामकृष्ण वर्मा का भारत-जीवन भी बहुत दिनों तक निकलता रहा। ज्ञान प्रदीपिनी, हिन्दू बांधव, मित्र विलास सार, सुधानिधि आदि भी अपने समय में बड़ी धाक रखते थे।

इसके बाद हिन्दी के उत्कर्ष की दृष्टि से दो ऐसी बातें हुई जिन्होंने साहित्य की श्री वृद्धि को अपूर्व गति प्रदान की। संवत् १९५० में काशी के कुछ उत्साही नवयुवक साहित्यकों ने स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दरदास के नेतृत्व में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। सभा ने अनेक ऐसे कार्य किये जिन पर किसी भी संस्था की आदर्श सफलता कूती जा सकती है। पं० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह का इस सदनुष्ठान में प्रारंभ से योग रहा। सभा ने संयुक्त प्रान्त के न्यायालयों में हिन्दी को स्थान दिलाया और नागरी लिपि का प्रचार करने का अपना उद्देश्य एक बड़ी सीमा तक पूरा किया। उसने प्राचीन ग्रन्थों का अनुसंधान, शोध और संपादन कराया। गंभीर और विविध विषयक साहित्य के प्रकाशन को उसके द्वारा बड़ा प्रोत्साहन मिला। हिन्दी में विज्ञान संबंधी शब्दों की रचना हुई। 'हिन्दी वैज्ञानिक कोष' और हिन्दी शब्द सागर के समान बृहत् और महत्वपूर्ण शब्द कोष बने जिनकी प्रामाणिकता आज भी असंदिग्ध है। हिन्दी साहित्य के निर्माण क्षेत्र की भूमिका भारतेन्दु के उपरान्त सभा ने ही तैयार की। स्थापना के तीन वर्ष पीछे ही सभा ने

अपनी पत्रिका निकाली जो साहित्य के अनुसंधान और पर्यालोचन से परिपूर्ण थी। सभा की ही खोज के फलस्वरूप आज कई सौ ऐसे कवियों की कृतियों का परिचय हमें प्राप्त है जिनका पहले पता न था। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का इतिहास सुस्थिर और संपन्न हुआ। सभा एक प्रकार से हिन्दी प्रेमियों और हितैषियों की आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों का जीवित माध्यम बन गई। सभा के कार्यों और लगन की ओर सरकार का ध्यान भी आकर्षित हुआ। सरकारी सहायता मिलने लगी जो धीरे धीरे बढ़ती गई। जैसा कहा जा चुका है महर्षि मालवीयजी के नेतृत्व में सभा का एक शिष्ट मंडल तत्कालीन गवर्नर से मिला था। फलस्वरूप संवत् १९५७ में कचहरियों में नागरी का प्रवेश हो गया। इस प्रकार भारतेन्दु के समय से चले आ रहे इस महत्वपूर्ण आन्दोलन की सुखद समाप्ति हुई।

१८९९ ईसवी में नागरी प्रचारिणी सभा की संरक्षता में सरस्वती पत्रिका का संपादन आरंभ हुआ। १९०३ में इस पत्रिका का संपादन पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथ में आया। द्विवेदी जी के समय में सरस्वती द्वारा भाषा संस्कार का युग परिवर्तनकारी उद्योग हुआ। इस समय तक खड़ी बोली हिन्दी गद्य की सामान्य रूप से और पद्य की आंशिक रूप से भाषा बन चुकी थी। पर एक ओर उसकी अस्थिरता को दूर करना था—दूसरी ओर उसकी अभिव्यंजना शक्ति और गंभीर सूक्ष्म भावों को प्रकट करने की प्रवृत्ति को बढ़ाना था। भाषा में प्रान्तीयता के प्रयोग बराबर चलते थे। हिन्दी की प्रकृति को न पहचान कर बँगला और अँगरेजी वाक्यगठन, शब्दों और मुहाविरों के अनुवाद हो जाते थे और गद्य शिथिल हो जाता था। साथ ही व्याकरण के नियमों की उपेक्षा होती थी। द्विवेदी जी ने हिन्दी के स्वतंत्र व्याकरण की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। विभक्ति प्रयोग का आन्दोलन चलाया और लिंग भेद की भूलों को दूर करने की चेष्टा की। भाषा का संपूर्ण

परिमार्जन करके उन्होंने उसे सुसंस्कृत बनाया। भाषा में प्रौढ़ता आई और विषयों की विभिन्नता बढ़ने से अनेक सुन्दर शैलियों का आविर्भाव हुआ। द्विवेदी जी ने स्वयं अपने लेखन में मध्यम मार्ग अपनाया। संस्कृत मिश्रित होते हुए भी उनकी भाषा में बहतापन है क्योंकि उर्दू शब्दों का भी उसमें यथोचित समावेश होता है। द्विवेदी जी ने स्वयं ऐसे अनेक विषयों पर लेखनी उठाई जिन पर लिखने वाले उस समय न थे। फलस्वरूप नये लेखकों को प्रोत्साहन मिला। अँगरेजी पढ़े लिखे नवयुवकों में हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रेम जाग्रत हुआ। द्विवेदी जी की दृष्टि ज्ञान विज्ञान की विवेचना और रचनात्मक साहित्य दोनों ओर थी। पर अपने युग के साहित्यिकों पर उनकी ऐसी छाप थी कि शैलियों और व्यक्तित्वों की भिन्नता उनके सामने अधिक उभर न पाई। आचार्य शुक्लजी तथा अन्य साहित्य मीमांसकों की दृष्टि में द्विवेदी जी की मौलिक रचनाओं का अधिक मूल्य नहीं है। पर उनकी विशुद्ध टकसाली भाषा के कारण उन्हें एक महान् साहित्यिक शक्ति का प्रतीक माना जाता है। इसीलिए ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षों को हम द्विवेदी-युग के नाम से पुकारते हैं। वे गद्य शैली के विकास में एक मंजिल थे। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—जो कुछ कार्य द्विवेदीजी ने किया वह अनुवाद का हो, काव्य रचना का हो, आलोचना का हो अथवा भाषा-संस्कार का हो या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो—वह स्थाई महत्व का हो या अस्थाई—हिन्दी में युग-विशेष के प्रवर्तन और निर्माण में सहायक हुआ है। उसका ऐतिहासिक महत्व है।" हिन्दी की वर्तमान एकरूपता और स्थिरीकरण का सारा श्रेय उन्हीं को है।

हिन्दी गद्य की उन्नति में ये दोनों घटनायें अत्यधिक सहायक हुई हैं। इनके साथ ही अँगरेजी रचना प्रणाली के प्रभाव ने भी हिन्दी गद्य की शैली-विविधता को बढ़ाया है। राजनीतिक आन्दोलन, शिक्षा की उन्नति

और पत्र पत्रिकाओं की वृद्धि ने साहित्य की गति को आगे वढ़ाया। जव विश्वविद्यालयों में हिन्दी उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाई जाने लगी तव विविध विषयों की महत्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन अनिवार्य हो गया। इस प्रकार मौलिक ग्रन्थ प्रणयन और हिन्दी और नागरी लिपि के प्रचार के उद्योग साथ साथ चले। अन्य प्रान्तों के निवासी भी हिन्दी की ओर आकर्षित हुए। हिन्दी में 'वेंकटेश्वर समाचार' का प्रकाशन शुरू हुआ। मेरठ के पं० गौरदित्त ने नागरी प्रचार में वहुत काम किया। आर्य समाज ने तो हिन्दी के प्रचार और उर्दू के स्थान पर उसकी स्थापना का झंडा ही उठा लिया था। हिन्दी को राजभाषा और आगे चल कर राष्ट्रभाषा वनाने के आन्दोलन का सूत्रपात्र भी यहीं से होता है। इस प्रसंग में फ्रेडरिक पिंकाट, सर जार्ज ग्रियर्सन की साहित्य सेवा और हिन्दी समर्थन भी स्मरणीय है। हिन्दी रचनाओं का स्तर ऊँचा हो चला था। उनके प्रभाव क्षेत्र की व्यापकता वढ़ रही थी।

नाटकों के संवंध में ऊपर लिखा जा चुका है कि भारतेन्दु ने मौलिक नाटक-रचना को गति दी। हिन्दी के तत्कालीन सभी प्रसिद्ध लेखकों ने नाटक लिखे। गद्य साहित्य का निर्माण इस युग में इतने परिमाण में हुआ है कि छोटे वड़े समस्त ग्रन्थों का उल्लेख करना कठिन है। भारतेन्दु के पीछे मौलिक नाटकों की प्रवृत्ति तो कम हो गई पर अनुवादों की परंपरा चलती रही। वंगला नाटकों के अनुवाद के लिए वा० रामकृष्ण वर्मा और पं० रूपनारायण पांडेय, अंगरेजी नाटकों के अनुवादक पुरोहित गोपीनाथ और मथुरा प्रसाद चौधरी, संस्कृत नाटकों के अनुवाद के लिए लाला सीताराम, पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र, सत्यनारायण कविरत्न आदि प्रसिद्ध हैं। मौलिक नाटकों के लिए पं० किशोरीलाल गोस्वामी, ज्वाला प्रसाद मिश्र, वलदेव प्रसाद मिश्र, वावू शिवनंदन सहाय, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि उल्लेखनीय हैं। अभिनय की दृष्टि से ये नाटक वड़े महत्व के हैं।

पर दुख की वात है कि आज भी हिन्दी रंग मंच जहाँ का तहाँ पड़ा है। इसीलिए वर्तमान नाटकों में अभिनेयता की कमी है।

भारतेन्दु ने एक शैली की नींव डाली थी। उसी को विकसित करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की रचनाओं का सहारा लिया गया था। उपन्यासों के प्रणयन की गति भी तीव्रतर होती गई। अनुवाद और मौलिक उपन्यासों की वाढ़ आ गई। वावू गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, पं० प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, रामकृष्ण वर्मा, कार्तिक प्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, मुंशी उदित नारायण लाल, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, रूपनारायण पांडेय, रामचन्द्र वर्मा आदि के अनुवादों और देवकीनंदन खत्री, हरिकृष्ण जौहर, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्या सिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता, वावू ब्रजनन्दन सहाय आदि के मौलिक उपन्यासों का हिन्दी गद्य के विकास क्रम में अपना स्थान है।

अव हम पद्य साहित्य की प्रगति पर आते हैं। भारतेन्दु काल पद्य-रचना की दृष्टि से उतना समृद्धि नहीं है। कारण साहित्यकारों का ध्यान गद्य-रचना की ओर अधिक था। उसी में उन्हें युग की माँग की पूर्ति दिखाई देती थी। काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा की ही प्रवलता थी पर खड़ी वोली का पद्य की भाषा के रूप में स्थान भी स्वीकृत हो रहा था। हिन्दी की ह्रासकारिणी शृंगारिक कविता की रूढ़ि भारतेन्दु ने अपने देशप्रेम से परिपूर्ण नाटकों के गीतों में पहले ही तोड़ दी थी। राष्ट्रीय भावनाओं और जातीय जागरण का वेग उसी दिन वाणी की अदम्यता के साथ हिन्दी कविता में फूटा था। नवीन जीवन और स्थितियों का प्रकाश अव कविता में उदभासित हो रहा था। पर भाषा सम्वन्धी स्पष्टता न थी। खड़ी वोली और ब्रजभाषा की मिश्रित पदावली में कवितायें होती थीं। न तो शुद्ध ब्रजभाषा काव्य भाषा थी—न शुद्ध खड़ी वोली। स्वयं भारतेन्दु की कविता की भाषा कहीं ब्रजभाषा, कहीं

खड़ी वोली और कहीं दोनों की मिश्रित भाषा है। भाषा में हमें वह मार्जन और शुद्धता नहीं मिलती जो महाकवि पद्माकर के समय तक थी या जो वाद में मैथिली-शरण गुप्त से आकर प्रारंभ हुई।

काव्य के विषयों में अवश्य अभीष्ट परिवर्तन हुआ। जातीय उद्‌वोधन और राष्ट्रीय चेतना, समाज सुधार की प्रवल कामना, सामाजिक जीवन और जड़ता की व्यापक अभिव्यक्ति, रूढ़ियों की अनिष्टकर परम्परा को तोड़ने की स्फूर्तिमयी भावना, प्राचीन गौरव और इतिहास का दर्द और दर्प जगाने की प्रवृत्ति, देश के पराभव पर ग्लानि और संताप यह सव वड़ी हार्दिकता के साथ कविता में उच्छ्‌वासित हुआ यद्यपि कला की कुशलता का अभाव सा था। सोता हुआ साहित्य जाग तो पड़ा था पर पूरी तैयारी और रूप-सज्जा के साथ उठ कर खड़ा न हुआ था। अँगरेजी शिक्षा और पाश्चात्य जाग्रति और सभ्यता के प्रभाव से नवीन परिस्थितियों और सामाजिक परिवर्तनों का प्रादुर्भाव हो चला था। जीवन के आचारिक और नैतिक मूल्य वदल रहे थे। नई नई सामाजिक प्रवृत्तियों के भीतर धार्मिक और लौकिक परिपूर्तियों का आग्रह भी था। साथ ही पुराने समय से चली आ रही श्रृंगार और प्रेम काव्य की परंपरा भी थी और उसके प्रति भी साहित्यिकों और जनता का आकर्षण कम न हुआ था। अनुभूति और काव्य कला की दृष्टि से उस समय की कविता का यही अंग सर्वश्रेष्ठ है। जहाँ राष्ट्रीय अवनति या सांस्कृतिक अध:पतन, विवाह संवंधी कुरीतियाँ, शिक्षा का अभाव, आत्मवल और जातीय वल की कमी कविता का वर्ण विषय रहा वहाँ कविता कविता न रह कर उपदेशक की शुष्क वृत्ति से भर गयी। भारतेन्दु के समय की काव्यधारा को हम विशेषतया तीन दिशाओं की ओर वढ़ता पाते हैं। वैष्णव काव्य धारा, श्रृंगार प्रधान काव्य और जातीय और राष्ट्रीय काव्य। पहली दो धारायें भारतीय साहित्य की परंपरा से सम्वन्धित थीं। तीसरी समय और

परिस्थितियों की उपज थी। इतना और मानना पड़ता है कि अपना कवित्व गुण खोकर भी हिन्दी कविता शिक्षित जनता के साहचर्य में आ गई थी। अभिव्यंजना का ढंग और मूर्तिमत्ता रीतिकालीन होने पर भी समाज के वर्ग विशेष को लेकर जो व्यंग किये जाते थे या जो प्रकृति-निरीक्षण होता था वह शिक्षा में अभिरुचि रखने वाले पाठकों को पसन्द आता था। इस समय के व्रजभाषा तथा मिश्रित भाषा में लिखने वाले प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—वर्तमान गद्य के प्रवर्तक होनेके साथ साथ प्रेम और भक्ति के उच्चकोटि के कवि थे। बड़ा सुकुमार भावुक कवि हृदय इन्होंने पाया था और इनके कवित्त सवैये मार्मिकता से भरे हैं। भाषा भी बोलचाल की सरल है और उसमें कहीं 'कच्चापन' नहीं है। व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों की भाषा इनकी चलती हुई है। प्रेम माधुरी इनके कवित्त, सवैये का संग्रह है। प्रेम फुलवारी, प्रेम मालिका, प्रेम प्रलाप इनके पदों और गानों के संग्रह हैं। भारतेन्दु की देशानुराग से भरी जाति-प्रेम की कविताओं में वह तन्मयता और भावना की अनुभूत तीव्रता नहीं है जो इन मरन्द-मधुर कविताओं में है। उनकी सुधारक कविताओं में निबंधों की-सी बुद्धिगम्य विचार प्रणाली है, भावों का तरंगित उच्छ्वास नहीं। पर परंपरावादी कवित्त सवैयों में रस का अजस्र श्रोत है। देखिये—

रोकहुँ जो तो अमंगल होय औ, नेह नसै जो कहौं प्रिय जाइये।
जो कहौं जाहु न तौ प्रभुता औ कहू न कहों तो सनेह सनाइये॥
जो कहौं जीहौं न आपु बिना तो भला हरिचन्द जू क्यों पति आइये।
या तें पयान समै तुमसे हम कहा कहें आपु हमें समुझाइये॥

नव उज्वल जलधार हार हीरक सी सोहती।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति।

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ।।

प्रतापनरायण मिश्र--की कविता सरस और प्रभावोत्पादक होती थी। ये बड़े लहरी कवि थे। शृंगार रस की समस्या पूर्तियां बड़ी सुन्दर करते थे। लावनी भी इन्होंने बहुत लिखी है। सामाजिक विषयों पर और हास्य विनोद की इनकी कवितायें प्रशंसनीय हैं। देश दशा पर आँसू बहाने के अतिरिक्त इन्होंने बुढ़ापा और गोरक्षा जैसे विषय भी कविता के लिए चुने। इनके कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी पाये जाते हैं। पर मिश्रजी के हँसोड़ जीवन्मुक्त व्यक्तित्व की झलक इनकी हास्य विनोद पूर्ण कविताओं में ही दिखाई पड़ती है जिनमें हास्य विनोद के साथ भाव व्यंजना भी है। एक उदाहरण दिया जाता है--

पितु मात सहायक स्वामि सखा तुम ही इक नाथ हमारे हौ ।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुम ही रखवारे हौ ।
सब भाँति सदा सुखदायक हौ दुख दुर्गुन नासन हारे हौ ।
प्रतिपाल करौ सगरे जग को अति सै करुना उर धारै हौ ।।

अम्बिकादत्त व्यास--कवि समाजों में समस्या पूर्तियाँ सुनाया करते थे। इनकी कविता प्राचीन ढंग की होती थी। भाव साधारण होते हुए भी कविता मधुर होती थी। अन्त्यानुप्रास रहित खड़ी बोली में इनका कंस वध महाकाव्य है। कविता में इनका उपनाम सुकवि था। महाकवि बिहारी की सतसई की टीका इन्होंने कुंडलियाँ छन्द में की है--

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय ।
जा तन की झाँई परे श्याम हरित दुति होय ।
श्याम हरित दुति होय परत तन पीरी झाई ।

राधा हू पुनि हरी होत लहि स्यामल छाईं ।
नयन हरे लखि होत रूप अरु रंग अगाधा ।
सुकवि जुगुल छवि धाम हरहु मेरी भव बाधा ।।

वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—की प्रतिभा गद्य और पद्य में समान थी। इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में विस्तार से लिखा है। अपने समय के प्रायः प्रत्येक विशेष अवसर पर इन्होंने कविता लिखी है। नवीन विषयों के लिए ये रोला छंद लेते थे। इनके दोनों नाटकों में भी इनकी सरस और प्रांजल कवितायें हैं। अधिकांश कविताओं की भाषा में प्रवाह और मधुरता है। मुहावरों की छटा भी देखने को मिलती है। सामाजिक समस्याओं और देश की सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियों का इनकी काव्य-प्रेरणा पर बराबर प्रभाव पड़ता रहा है। उदाहरण देखिए—

जय जय भारत भूमि भवानी ।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी ।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी ।
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सो सबहिं सुझानी ।
भये असंख्य जहाँ जोगी तापस ऋषिवर मुनि ज्ञानी ।
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी ।।

लाला सीताराम—का उपनाम कविता में भूप था। कालिदास कृत मेघदूत तथा रघुवंश का अनुवाद इन्होंने किया है। भाषा साधारण चलती हुई है—न शुद्ध ब्रजभाषा है न शुद्ध खड़ी बोली। छन्दों में घनाक्षरी, दोहा और चौपाई मुख्य हैं।

ठाकुर जगमोहन सिंह—ब्रजभाषा में बड़ी सरस कविता करते थे। शृंगार रस के कवित्त, सवैये उन्होंने लिखे हैं। संस्कृत काव्यों के ढंग का

प्रकृति वर्णन इन्होंने किया है। अपनी भावनाओं के रंग में रंग कर ही प्रकृति को नहीं देखा वरन उसका स्वतंत्र रूप भी स्वीकार किया है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में "अपनी प्रेमचर्या की मधुर स्मृति से समन्वित विंध्यप्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिन्दी काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था।" पर इनकी कविता नये विषयों को अपनाने में असमर्थ रही। 'प्रेम सम्पत्ति लता', 'श्यामलता', 'श्यामा सरोजिनी' नामक काव्य पुस्तकों में इनकी अनेक श्रेष्ठ कवितायें संग्रहीत हैं। कालिदास के मेघदूत का इन्होंने सुन्दर शब्दों में अनुवाद किया है। इनके काव्य सौन्दर्य और लालित्य की प्रशंसा करनी पड़ती है।

राजा लक्ष्मण सिंह ने महाकवि कालिदास कृत शकुन्तला, मेघदूत और रघुवंश के अनुवाद किये। अनुवादों में मूल भावनाओं की रक्षा हुई है और उनकी सफलता असंदिग्ध है। उच्चकोटि की शुद्ध सरस ब्रजभाषा इन्होंने लिखी है। इसी प्रकार नवनीतलाल चतुर्वेदी भी शुद्ध ब्रजभाषा के कवि थे। इन्होंने रीतिकालीन परिपाटी अपनाई है। ये स्वर्गीय महाकवि जगन्नाथदास रत्नाकर के गुरू थे। ऐसी माधुर्यपूर्ण, प्रवाहमयी भाषा इन्होंने लिखी है जो देखते ही वनती है। कुब्जा पचीसी इनका सब से सुन्दर काव्य है। राधाकृष्णदास, विजयानंद त्रिपाठी और श्री विनायक राव का नाम भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इसी समय प्रसिद्ध कृष्णभक्त नागरीदास हुए जिन्होंने इश्क की फारसी पदावली और गजलवाजी की शैली अपनाई। इनकी परंपरा में ही प्रसिद्ध कृष्णभक्त ललित किशोरी और ललित माधुरी का नाम आता है। नजीर अकवरावादी ने भी कृष्ण लीला संवंधी वहुत से पद हिन्दी खड़ी वोली में लिखे। प्राचीन परिपाटी का अक्षरशः पालन करने वालों में द्विजदेव (अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह)

सरदार कवि, गोविन्द गिल्ला भाई, रसिक विहारी रसिकेश, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि के नाम आते हैं।

यह समय ब्रजभाषा और खड़ी वोली की प्रतिद्वन्द्विता का था। इस समय के प्रायः सभी कवियों ने ब्रजभाषा में कविता लिखी है पर इनकी कविता पर खड़ी वोली का प्रभाव वढ़ता जा रहा था। अनेक कवियों ने इसीलिए खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया है। छन्दों के चुनाव और विचारधारा में भी परिवर्तन हुआ। कविता में सरल और प्राकृतिक भाव वढ़ रहे थे। विलासिता के ऊपर शुद्ध प्रेम की प्रतिष्ठा हो रही थी। अलंकार प्रधान शैली धीरे धीरे छूटती जा रही थी। प्रसाद गुण और रस परिपाक की ओर लोगों का ध्यान वढ़ रहा था। इसी वीच एक युग लावनीवाजों का भी आया। लावनी की भाषा खड़ी वोली रहती थी और पीछे तो इनके द्वारा उर्दू के छंद भी लिये जाने लगे। ख्यालवाज भी इसी समय हुए जो अपने ढंग पर ठेठ हिन्दी का प्रयोग करते थे। इस प्रकार खड़ी वोली कविता का आरंभिक रूप कवित्त सवैया प्रणाली, उर्दू छंदों की प्रणाली और लावनी के ढंग पर पनपने लगा। खड़ी वोली को काव्य भाषा के रूप में स्वीकृत कराने में वावू अयोध्या प्रसाद खत्री और पं० चंद्रशेखरधर मिश्र का भी वड़ा हाथ रहा। इसी समय कुछ प्रतिभाशाली रस सिद्ध कवि ऐसे हुए जिन्होंने पहले तो शुद्ध टकसाली ब्रजभाषा में रचनायें कीं पर वाद में युग की नवीन शक्तियों ने उन्हें इतना प्रभावित किया कि वे शुद्ध खड़ी वोली में कविता लिखने लगे। खड़ी वोली के इन आदि कवियों में पं० श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा और राय देवी प्रसाद पूर्ण प्रमुख थे। वाद में तो इनकी एक परंपरा ही वन गई जो आज तक चली जा रही है।

पं० श्रीधर पाठक काव्य में स्वच्छन्दवाद के जिसे रोमान्सवाद के नाम से भी पुकारा जाता है, प्रवर्तक हैं। एकान्तवासी योगी

और ऊजड़ ग्राम इनकी खड़ी बोली की रचनायें हैं। साथ ही बहुत सी स्फुट कवितायें और सवैये भी इन्होंने लिखे। इनकी प्रतिभा रचना के लिए बराबर नये नये मार्ग निकालती थी। व्रजभाषा में भी ये बड़ी सरस कविता लिखते थे। मधुर गीत भी इन्होंने लिखे हैं। प्रकृति के सौंदर्य का भी मार्मिक चित्रण इनकी कविता में है। उसके यथार्थ चित्रण को अपना आदर्श बना कर भी उसकी स्थापना जनता के दुःखों-सुखों, आचार विचारों और सामाजिक भावनाओं में की है। नये ढाँचे के मधुर लययुक्त छन्द इन्होंने निर्मित किये और नये सुरों का परिचय दिया। समाज सुधार की भावना, देश भक्ति और राष्ट्रीयता भी इनकी कविता में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उस काल की कर्कश खड़ी बोली को इन्होंने काव्योपयुक्त कोमलता प्रदान की। इनकी पुस्तकों के नाम हैं—आराध्य शोकाजलि, श्री गोखले प्रशस्ति, एकान्तवासी योगी, ऊजड़ ग्राम, श्रान्त पथिक, जगत सचाई सार, काश्मीर सुखमा, मनोविनोद, श्री गोखले गुणाष्टक, देहरादून, तिलिस्माती मुँदरी, गोपिका गीत, भारत गीत। इनकी खड़ी बोली का नमूना देखिये—

ये सब भाँति भाँति के पक्षी ये सब रंग रंग के फूल।
ये बन की लहलही लता नवललित ललित शोभा के मूल॥
ये नदियाँ ये झील सरोवर कमलों पर भौंरों की गुंज।
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृक्षों की कुंज॥

नाथूराम शंकर शर्मा का छन्द विधान बहुत नपा तुला और सुन्दर होता था। समस्या पूर्ति भी ये उच्च कोटि की करते थे। आर्य समाजी कट्टरता के कारण इनकी पदावली में कहीं कहीं उद्दंडता आ गई है। पर यह वहीं है जहाँ इन्होंने उग्र सुधारक वृत्ति के कारण सामाजिक अंध-विश्वासों और कुरीतियों का विरोध किया है। यों इनके कवित्त सवैये रूपा सौष्ठव और रस परिपाक की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। उक्तियों में

मौलिकता और मनोहरता है। व्यंग, फवती और फटकार से भी इन्होंने काम लिया है। नई सभ्यता के अनाचारों पर इन्होंने कठोर प्रहार किये हैं। अपनी वहुमुख प्रतिभा और रस सिद्धि के कारण ये कविता कामिनी कान्त कहलाते थे। शंकर सरोज, अनुराग रत्न, गर्भ रंडा-रहस्य, वायस विजय आदि इनकी मुख्य पुस्तकें हैं जो प्रकाशित हुई हैं।

राय देवीप्रसाद पूर्ण—व्रजभाषा काव्य परंपरा के वहुत ही प्रौढ़ कवि थे। पहिले जव खड़ी वोली की कविता का प्रचार वढ़ा तव इन्होंने उसमें भी कवितायें कीं। उस युग के अन्य कवियों की भांति इनकी कविता में भी देश-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति का समन्वय पाया जाता है। व्रजभाषा में भी इन्होंने भारतेन्दु की भाँति नूतन विषय अपनाये हैं। इनकी अधिकांश कवितायें इति वृत्तात्मक हैं। पर जहाँ कवि ने कल्पना का आश्रय लिया है वहाँ कविता में अधिक सौंदर्य आ गया है। प्रकृति निरीक्षण, धार्मिक प्रवृत्ति और देश प्रेम आपकी कविता की प्रमुख विशेषतायें हैं। इनकी कवितायें पूर्ण संग्रह में संकलित हैं।

उपरोक्त तीनों कवियों में यद्यपि कवित्व पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी से अधिक है पर भाषा का मार्जन इन तीनों की अपेक्षा उन्होंने अधिक किया है। उसका स्वरूप निश्चित कर उन्होंने उसे काव्योपयुक्त वनाया है। इसीलिए इनकी कविता का ऐतिहासिक महत्व है। उनका काव्य उनकी काव्य संवंधी धारणाओं और आकांक्षाओं का प्रतिविम्व है। आचार्य शुक्लजी ने इसीलिए इन्हें पद्य रचना की एक प्रणाली का प्रवर्तक कहा है। गद्य और पद्य की भाषा की एकता पर जोर देने के कारण और अपनी कविता द्वारा उसका प्रयोग दिखाने की प्रवृत्ति के कारण इनकी भाषा वड़ी नीरस हो गई है। रस संचार और प्रेषणीता का गुण तो प्रायः है ही नहीं। संस्कृत वृत्तों का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है पर हिन्दी के कुछ प्रचलित छन्द भी अपनाये हैं। संस्कृत के कुमार संभव का अनुवाद

इनका बहुत सुन्दर हुआ है। द्विवेदी जी के अनुयायियों में कई बड़े बड़े कवि निकले जिनमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त सबसे यशस्वी हैं। पं० रामचरित उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त, लोचन प्रसाद पांडेय, अन्य उल्लेखनीय कवि हैं। मैथिलीशरणजी खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि हैं। हिन्दी कवियों में वे आज सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। उनकी कविता में कहीं कृत्रिमता नहीं देख पड़ती। इन्होंने परवर्ती काव्य शैलियाँ भी अपनाई हैं और कथात्मक खंडकाव्य, महाकाव्य और मुक्तक सभी कुछ लिखे हैं। बंगला काव्य पुस्तकों के अनुवाद भी इन्होंने किये हैं जिनमें इन्हें अद्भुत सफलता मिली है। गुप्त जी पर भारतीय भक्ति परंपरा, भावुकता और आराधनात्मक प्रवृत्ति का पूरा प्रभाव है। इनकी सरल अभिव्यक्ति और प्रसाद गुण ही इनके काव्य के व्यापक प्रभाव का रहस्य है। वीर पूजा की भावना उनमें बलवती है। प्राचीन कथाओं को नवीन आदर्शों का निरूपक बनाकर उन्होंनें प्रस्तुत किया है। भारत भारती को हम हिन्दी की पहली राष्ट्रीय रचना कह सकते हैं जिसमें जातीय ह्रास और राष्ट्रीय पराभव पर तीव्र असंतोष प्रकट किया गया है। गुप्त जी की काव्य परंपरा पर राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। साकेत, भारत भारती, जयद्रथ वध, गुरुकुल, हिन्दू, पंचवटी, अनघ, स्वदेश संगीत, बक संहार, वन वैभव, सैरन्ध्री, झंकार, शक्ति, विकट भट, रंग में भंग, किसान, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, गुरु तेज बहादुर, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, मंगल घट, वीरांगना, विरहिणी व्रजांगना, प्लासी का युद्ध, स्वप्न, स्वप्न वासवदत्ता, मेघनाथ वध, रुबाइयात उमर खैयाम, चन्द्रहदास, त्रिलोत्तमा, काबा और कर्बला आदि आपके मौलिक और अनुवादित ग्रन्थ हैं। आपने देश में जागृति और उत्साह का मंत्र फूंका है।

द्विवेदीजी के प्रभाव के बाहर के कवियों का भी सरसता और भावपूर्णता दृष्टि से हिन्दी कवियों में अपना स्थान है। पं० अयोध्या सिंह उपा-

ध्याय 'हरिऔध', पं० गया प्रसाद शुक्ल सनेही, पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन 'दीन', पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रूपनारायण पांडेय, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० मातादीन शुक्ल, स्वर्गीय मन्नन द्विवेदी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, पं० कामताप्रसाद गुरू, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, सैयद अमीर अली मीर, माधव शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। हरिऔध जी खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों के महाकवि थे। संस्कृत वृत्तों में प्रिय प्रवास उनकी अति सुन्दर रचना है। उनकी साहित्य सृष्टि अनेक मुखी है। उन्होंने काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाया है और उपदेशों और व्यंगों द्वारा समाज सुधार की प्रेरणा भी दी है। उनकी कोमलकान्त पदावली माधुर्य्य से परिपूर्ण है। भाव व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक दोनों प्रकार की कवितायें उन्होंने बड़ी सफलता के साथ लिखी हैं। शब्द भंडार पर इतना अद्भुत अधिकार अन्य किसी आधुनिक कवि का नहीं है। 'रस कलश' और 'वैदेही वनवास' उनके अन्य प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ हैं।

ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में सत्यनारायण शर्मा कविरत्न, जगन्नाथदास रत्नाकर, वियोगी हरि, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० मातादीन शुक्ल 'सुकवि नरेश', पं० रामचंद्र शुक्ल 'सरस', वचनेश, द्विज श्याम, दुलारेलाल भार्गव, डा० वल्देवप्रसाद मिश्र, रामनाथ ज्योतिषी आदि प्रसिद्ध हैं। श्री सत्यनारायण कविरत्न की रचनायें ब्रज-माधुरी से परिपूर्ण होती थीं। स्वदेशानुराग की सच्ची झलक उनकी कविता में मिलती है। देश के कुछ महापुरुषों की प्रशस्तियाँ उन्होंने भावुकतापूर्ण ढंग से लिखी हैं। भवभूति के मालती माधव नाटक का उन्होंने सरस और मधुर अनुवाद किया है। इनकी कविता में एक ओर भक्तिकाल की कृष्ण भक्ति के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर भारतेन्दु काल की नूतन विचारधारा और जागृति का संदेश भी मिलता है। इनकी ब्रजभाषा परंपरागत ब्रजभाषा नहीं, वहती वोलती ब्रजभाषा है। उत्तर रामचरित्र

का अनुवाद, मेकाले के अँगरेजी खंड काव्य होरेशस का पद्यवद्ध अनुवाद, प्रेमकली, भ्रमरगीत आदि इनके अन्य ग्रन्थ हैं। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' व्रजभाषा के सर्वोत्कृष्ट आधुनिक कवि हैं। इनकी भाषा शैली पद्माकर की सी है। अनुभावों के प्रस्तुत करने में कवि ने आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का उपयोग किया है। छंदों की कारीगरी और संगीतात्मकता में रत्नाकर जी वेजोड़ हैं। हरिश्चन्द्र, गंगावतरण, उद्धव शतक इनके मुख्य काव्य ग्रंथ हैं। कवि ने स्थान स्थान पर प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हार्दिक भावों का सामंजस्य दिखाया है। इनकी कविता में निर्वन्ध स्वाभाविक प्रवाह है।

महाकाव्यों की रचना भी इस युग में हुई है। प्रसाद जी का कामायनी छायावाद युग की सब से सशक्त और प्रौढ़ कृति है। प्रियप्रवास, साकेत का उल्लेख पहले हो चुका है। पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र का कृष्णायन इस युग की उच्चतम कोटि की कृति है और कदाचित् अवधी काव्य परंपरा का अंतिम ग्रन्थ है। कृष्ण के चरित्र का—उनके लोक संग्रह का वड़ा ही प्राणवान् चित्र कवि ने प्रदान किया है। रामायण की पद्धति पर रचा गया यह महाकाव्य सच्चे अर्थ में अपने नाम को चरितार्थ करता है। कवि ने इसमें युग और भारतीय मानवता को एक नया सदेश सुनाया है। वर्णन करने की अपूर्व शक्ति मिश्र जी में है और कल्पना की उड़ान, भावोत्कर्ष और रस परिपाक की दृष्टि से भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में यह गिना जाता है। कृष्ण के जीवन का ऐसा प्रवंधवद्ध व्यवस्थित और विदग्ध चित्र एक स्थान पर अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

डा० वल्देवप्रसाद मिश्र का साकेत सन्त, पुरोहित प्रतापनारायण। नल नरेश, श्यामनारायण पांडेय का हल्दी घाटी और जौहर, दिनकर कुरुक्षेत्र, रागनाथ ज्योतिषी का रामचन्द्रोदय आदि भी साहित्य के

इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित कर चुके हैं। श्री गिरिजादत्त 'गिरीश' और हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी महाकाव्य दिये हैं। ये सब साहित्य की स्थाई निधि हैं।

हिन्दी के राष्ट्रीय कवियों में पं० माखनलाल चतुर्वेदी अग्रणी हैं। उन्होंने आत्म बलिदान और राष्ट्र पूजा की व्यापक प्रेरणा दी है। पं० बालकृष्ण शर्मा, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी आदि अन्य उल्लेखनीय कवि हैं। द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता और स्थूल वर्णन की प्रतिक्रियास्वरूप छायावाद के रूप में एक स्वतंत्र काव्य दर्शन का उदय हिन्दी में हुआ। सौन्दर्यानुभूति और चित्रात्मक कल्पना इस काव्य धारा का प्रमुख गुण है। बँगला और अँगरेजी कविता से मिली प्रेरणा ने इसका सूत्रपात किया। बाद में प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ने इसे अपनी साधना से एक जीवन्त शक्ति प्रदान की। प्रसाद जी की कविता ने हिन्दी को एक विशिष्ट शैली ही नहीं एक विशिष्ट शब्द-कोष भी प्रदान किया। भावनाओं की ऐसी सुकुमार योजना उन्होंने दी कि अभिव्यंजना के क्षेत्र में क्रान्ति हो गयी। निराला जी ने सबल सशक्त पौरुष के स्वरों में भारतीय अद्वैतवाद का काव्य में प्रतिपादन किया। उनकी कविताओं का सा दार्शनिक प्रकाश अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद की कामायनी और निराला का तुलसीदास छायावाद के दो विराम स्थल हैं। कामायनी में कवि ने आनन्दवाद की विराट भावना को अपने दार्शनिक विश्वास के आवरण में उपस्थित किया है। कवि ने श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय का संदेश इसमें सुनाया है। काव्य, विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है। भाषा का संगीतमय माधुर्य और कवि की वचन-विदग्धता देखते ही बनती है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में "प्रसादजी प्रबंध क्षेत्र में भी छायावाद की चित्रप्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गये हैं।" सचमुच कामायनी को पाकर हिन्दी कविता निहाल हो गई है।

आधुनिक सौन्दर्य-दृष्टि का भारत की सांस्कृतिक विरासत के साथ बड़ा कलात्मक विनियोग इसमें हुआ है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने पश्चिमी शैली का आश्रय लिया है और रवीन्द्रनाथ की भाँति उन पर वैष्णव कवियों का प्रभाव पड़ा है। इनकी भावों की उड़ान बहुत ऊँची है। अन्य कवियों में जहाँ कोमलता अन्त होती है वहाँ पंत जी में आरंभ होती है। मूर्तिमती लाक्षणिकता का आभास इनमें शुरू से पाया जाता है। इनकी कविता में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम संबंध पाया जाता है। इनकी कविता का क्रमिक विकास एक प्रकार से आधुनिक खड़ी बोली कविता का ही क्रम विकास है। छायावादी कहे जाने वाले कवियों में श्रीमती महादेवी वर्मा रहस्यवाद के भीतर रही हैं। आधुनिक युग की ये सर्वश्रेष्ठ गीतकार हैं। इनकी पदावली माधुर्य और स्निग्धता में डूबी हुई है। यदि निराला जी ने हिन्दी को मुक्त छन्द दिया है तो देवी जी ने गीतों की लयमयी परिणति। ये वेदना की रसमयी सृष्टि अपनी कविता में करती हैं।

हिन्दी कविता आज प्रगति के मोड़ पर आकर रुक सी गयी है। जीवन की महान और चिरकालीन भावनाओं को लेकर कविता इस उथल पुथल और द्रुत परिवर्तन के युग में यदि नहीं लिखी जा सकती तो यह साहित्य का अभाव ही माना जायगा। पर नयी नयी प्रतिभायें वरावर क्षेत्र में आ रही हैं। भविष्य में वही कवि इस विराम को गति दान देगा जो नव जागरण और सांस्कृतिक परंपरा का रसमय समन्वय कर सके। आज या तो कवि इतने अन्तर्मुख हैं कि कोई सामाजिक और भौमिक लगाव ही नहीं अनुभव करते या फिर सस्ते भावहीन वर्णनों में पड़ कर द्विवेदी कालीन गद्यात्मकता की ओर लौटने लगते हैं। आवश्यकता प्रयोग और परिवर्तन की ओर से हट कर ठोस जीवन-भूमि पर आने की है। हिन्दी कविता का नया विकास भविष्य के गर्भ में है। इस अस्थिरता की सर्वतोव्याप्त हलचल के वाद

जब जीवन की शक्तियों का स्थिरीकरण होगा तब कविता में नये प्राण फटेंगे। अभी तो प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और प्रतीकवाद के झमेले में पड़ी कविता को देख कर लगता है जैसे उसमें आत्मा का सर्वश्रेष्ठ सत्य अभिव्यक्त नहीं हो पा रहा है। यह संक्रान्ति युग का ही विषम प्रभाव है।

गद्य के विभिन्न अंगों का विकास

साहित्यिक समालोचना का आरम्भ भारतेन्दु के समय में ही हो गया था। पर उसका स्वरूप द्विवेदी जी के समय में निश्चित हुआ। मासिक, साप्ताहिक पत्रों में चलने वाली पुस्तक समीक्षा की संक्षिप्त प्रणाली का सूत्रपात द्विवेदी जी ने किया। आलोचना का संयत ढंग भी उन्होंने हिन्दी को दिया। द्विवेदी जी की आलोचनायें खंडनात्मक हैं जिनका उद्देश्य साहित्य नहीं वरन् भाषा का सुधार होता था। विशेष अध्ययन पूर्ण मूल्यांकन के स्थान पर द्विवेदी जी ने परिचयात्मक शैली को ही आगे बढ़ाया। साथ ही उनमें निर्णयात्मक प्रवृत्ति भी थी। द्विवेदी जी के समकालीन आलोचकों में मिश्रबंधु प्रमुख थे। उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रन्थ अपने ढंग का अपूर्व है। हिन्दी नवरत्न में कवियों की समालोचना का सूत्रपात हैं जो श्रेणी विभाजन पर आधारित है। गुण दोष विवेचन की प्रवृत्ति अवश्य है पर उसकी जीवनमें कोई गहरी पकड़ नहीं है। हिन्दी आलोचना के इतिहास में मिश्रबंधुओं का ऐतिहासिक स्थान माना जायगा। पंडित पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन 'दीन' और पं० कृष्णविहारी मिश्र की आलोचनायें इसके बाद अधिक प्रकाश में आईं। वह युग कवियों की पारस्परिक श्रेष्ठता के प्रचार और प्रतिपादन का था। शर्मा जी ने हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना की नींव डाली जिसे मिश्र जी ने आगे बढ़ाया। शर्मा जी की आलोचना में कला के बाह्य अंगों पर विशेष ध्यान दिया गया है अंतस्थ की ओर नहीं। उनकी उर्दू मिश्रित भाषा में मुशायरों की कदरदानी वाला लहजा है। मिश्रजी अपेक्षाकृत गंभीर संतुलित आलोचना पद्धति को लेकर

चले हैं। देव और बिहारी को लेकर उस युग में एक साहित्यिक विवाद ही खड़ा हो गया था। लाला भगवानदीन 'दीन' ने मिश्र जी की पुस्तक 'देव और बिहारी' के उत्तर में 'बिहारी और देव' लिखी थी। इन लेखकों की आलोचना ने पाठकों में काव्यानुराग और काव्यानुशीलन की भावना अवश्य उत्पन्न की। इन लेखकों ने अपने प्रिय कवियों के ग्रन्थों का संपादन और टीकायें भी कीं। अँगरेजी ढंग की आलोचनायें लिखने में बाबू श्यामसुन्दर दास और पंडित रामचन्द्र शुक्ल प्रमुख थे। दोनों ने आलोचना संबंधी सिद्धान्तों का निरूपण किया और हिन्दी भाषा के स्वरूप का परिचय कराया। बाबू साहब ने भारतीय आलोचना परंपरा की रक्षा करते हुए पश्चिमी ढंग पर अच्छी आलोचनायें कीं। इनके ग्रन्थ साहित्यालोचन, रूपक रहस्य, भाषा और साहित्य, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास आदि हैं। शुक्लजी ने जायसी, तुलसी, सूर आदि पर बड़ी पैनी और गंभीर विश्लेषणात्मक आलोचना लिखी। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में उन्होंने "पूर्व की इस पद्धति को पश्चिमी आलोचना के दृष्टिकोण से परिमार्जित कर के उसे साहित्य का माप दंड बनाया।" शुक्लजी ने कवियों के मानसिक और कलात्मक विकास पर प्रकाश डाला। हिन्दी आलोचना को उन्होंने एक नई दिशा—नई दृष्टि प्रदान की। उनकी कृतियाँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी, विनयमोहन शर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० दीनदयालु गुप्त, डा० केशरीनारायण शुक्ल, गुलाब राय, डा० नगेन्द्र आदि इस युग के उल्लेखनीय आलोचक हैं। हिन्दी आलोचना आज बहुत आगे बढ़ आई है। आज रचना में केवल र की शास्त्रीय खोज नहीं वरन् सामाजिक प्रेरणा और प्रभावों को भी जाता है। और भी बहुत से नये पुराने आलोचना-लेखक

हैं जो अपनी मननपूर्ण सारगर्भित कृतियों से साहित्य का भंडार भरा करते हैं।

नाटक का क्षेत्र अभी उतना भरा पूरा नहीं है जितना होना चाहिए। हिन्दी के स्वतंत्र रंग मंच का न होना भी नाटक के सम्यक् विकास में बाधक हुआ है। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के अपने रंग मंच होने के कारण वहाँ नाटक रचना की प्रगति सन्तोषप्रद रही है। प्रसाद जी और पं० लक्ष्मी-नारायण मिश्र ये दो प्रमुख नाटककार हैं जिनकी अपनी धारायें हैं। प्रसाद जी प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति से नाटक का कथानक और परिस्थितियाँ चुनते हैं। संघर्ष अत्यन्त स्पष्ट रूप से उनके नाटकों में उभरता है। पर उनके सभी पात्र दार्शनिक और भावप्रधान होते हैं। इसीलिए नाटक में लम्बे लम्बे प्रवचनों के बीच भाषा और विचारों की दुरूहता और भी अस्वाभाविक जँचती है। उनके कामना नाटक में मानसिक वृत्तियों को पात्रों का स्वरूप दिया गया है। भाषा, भाव, नाटकीयता और देश काल के अनुरूप पात्रों और वातावरण की सृष्टि इस दृष्टि से प्रसाद जी के नाटक हिन्दी में श्रेष्ठतम स्थान रखते हैं। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में आधुनिकता की झलक है। वे समस्या प्रधान हैं। उनमें सामा-जिक रूढ़ियों और असंगतियों पर आघात है। नपे तुले वाक्य और कथोप-कथन के साथ साथ मनोविज्ञान का भी पूर्ण परिचय लेखक देता है। पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० गोविन्दवल्लभ पंत, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, पं० उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण जोहर आदि हिन्दी के अन्य उल्लेखनीय नाटककार हैं। उग्र का 'महात्मा ईसा' और प्रेमचन्दजी के 'संग्राम' और 'कर्बला' भी उल्लेखनीय नाटक हैं। पं० कृपानाथ मिश्र का 'मणि गोस्वामी' अपने ढंग का अनोखा है। पं० बदरीनाथ भट्ट के नाटक व्यंग और विनोद की दृष्टि से अच्छे हैं। जी० पी० श्रीवास्तव के हास्य रस के नाटकों और प्रहसनों का समय अब जा चुका है। एकांकी नाटककारों में रामकुमार वर्मा,

भुवनेश्वर प्रसाद, गणेश प्रसाद द्विवेदी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और विष्णु प्रभाकर के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्दजी ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। उनके पहले के उपन्यासकारों और उनकी रचनाओं का उल्लेख पहले हो चुका है। उनके मौलिक उपन्यास सेवासदन और प्रेमाश्रम ने निकलते ही धूम मचा दी। रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, गबन, निर्मला, कर्मभूमि, गोदान आदि उनके अन्य प्रसिद्ध उपन्यास हैं। उनके उपन्यासों में घटनाओं और भावनाओं का ऐसा सुन्दर मेल है कि पढ़ कर पाठक कथा के रस-प्रवाह में बहता चला जाता है। सामाजिक संघर्ष का सच्चा प्रतिबिम्ब इनकी रचनाओं में है। देहाती समाज और जीवन का मार्मिक चित्रण इनके उपन्यासों में हुआ है। इनकी जैसी चलती हुई और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा पहले नहीं देखी गई। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में—"प्रेमचन्द ने समाज के असाधारण वर्गों की ओर से दृष्टि को हटा कर मध्यम तथा निचली श्रेणी के लोगों की नित्य प्रति की समस्याओं की ओर हिन्दी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया।" प्रेमचन्द से पहले उपन्यास साहित्य में जीवन को कोई स्थान न था। प्रेमचन्द जी ने अपनी सूक्तियों और व्यंगों के सहारे उसे और भी भावव्यंजक बना दिया है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी उनके उपन्यास बेजोड़ हैं। आदर्श और यथार्थ का विचित्र समन्वय उनकी कला में मिलता है। अन्य उपन्यासकारों में प्रसाद जी, कौशिक, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृन्दावन लाल वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, भगवती चरण वर्मा, यशपाल, उग्र, चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारामण सिंह आदि प्रसिद्ध हैं। उग्र जी हिन्दी में यथार्थवाद के प्रतिनिधि कलाकार हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और कथा-गुंफन के लिए प्रसिद्ध हैं। वृन्दावन लाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकारों में अग्रणी हैं। किसी भी प्रान्तीय भाषा के श्रेष्ठतम ऐतिहासिक उपन्यासकार से

उनकी कला की तुलना हो सकती है। चतुरसेन शास्त्री की भाषा का प्रवाह दर्शनीय है। यशपाल का दृष्टिकोण समाजवादी है और वे सामाजिक आर्थिक क्रान्ति के प्रचारक हैं।

कहानी के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य आज बहुत आगे है। संस्कृत की हितोपदेश या राज-तरंगिणी की शैली पर न लिखी जाकर ये अँगरेजी की छोटी कहानियों की शैली पर लिखी गई हैं। इनके नाना प्रकार हैं। प्रेमचन्द हिन्दी कहानी के क्षेत्र में भी अग्रणी हैं। यों हिन्दी में छोटी कहानी का आरंभ श्री गिरिजा कुमार घोष ने किया। श्री गुलेरी जी, गोपालराम गहमरी, ज्वालादत्त शर्मा आदि ने भी उसे आगे बढ़ाया। प्रेमचन्द और प्रसाद ने युगान्तर उपस्थित कर दिया। प्रेमचन्द की कहानियाँ घटना प्रधान हैं—प्रसाद की भाव प्रधान। वे कवित्वपूर्ण भाषा और हृदय के सुकुमारतम आवेगों की अभिव्यक्ति के कारण एक मार्मिकता का वातावरण उपस्थित करती हैं। प्रेमचन्द की कहानियाँ सामाजिक आधारों और समस्याओं को लेकर चलती हैं। लेखक स्वयं परिस्थितियों की मार्मिक व्याख्या करता है। प्रेमचन्द ने सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं और बड़ी सफलता के साथ लिखी हैं। प्रेम कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, पशु जीवन से संबंध रखने वाली कहानियाँ, कांग्रेस के राष्ट्रीय जीवन की सजीव कहानियाँ, हास्य रस की कहानियाँ सब उन्होंने लिखी हैं। कौशिक जी की कहानियों में कथोपकथन और पारिवारिक जीवन का सौन्दर्य दर्शनीय है। प्रेमचन्द की भाँति ये भी आदर्शवादी लेखक हैं। सुदर्शन जी भी आदर्शवाद के हिमायती हैं। कहानी कला का सर्वोच्च विकास इनकी कहानियों में पाया जाता है। अन्य कहानीकारों में चतुरसेन शास्त्री, उग्र, राय कृष्णदास, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र कुमार, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, यशपाल, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रकिरण सौनरिक्शा, उषादेवी मित्रा, अन्नपूर्णानन्द, कृष्णानंद गुप्त आदि के नाम

उल्लेखनीय हैं। हिन्दी कहानी आज बहुत आगे बढ़ आई है। उग्र जी की कहानियों ने हिन्दी कहानी साहित्य में युगान्तर उपस्थित किया है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियाँ चरित्र सृष्टि और वस्तु योजना की दृष्टि से सब से आगे हैं। विष्णु प्रभाकर और जैनेन्द्र मानवतावादी हैं और कला के नैतिक मूल्यों को आगे रखते हैं। यशपाल और अन्य नये कहानी लेखक जीवन के कुरूप यथार्थों की कटु आलोचना करते हैं। राहुल जी और भगवतशरण उपाध्याय ने संस्कृति के ऐतिहासिक विकास का क्रम दिखाने वाली कहानियाँ लिखी हैं। उषादेवी मित्रा की कहानियाँ कवित्व-मयी भावुकता से परिपूर्ण होती हैं। कहानी लेखिकाओं में उनका स्थान सब से ऊँचा है। कहानी आज हमारे साहित्य का सब से लोकप्रिय अंग है और मनस्तत्व का विश्लेषण उसमें बराबर बढ़ता जाता है।

निबंध की दिशा हिन्दी में उतनी संपन्न नहीं है। आलोचनात्मक निबंध तो हमारे यहाँ उच्चकोटि के हैं पर शेष सभी निबंध साधारण हैं। भावात्मक निबंध सरदार पूर्ण सिंह के उच्चकोटि के हैं। दार्शनिक निबंध गुलाबराय, कन्नोमल और वासुदेव शरण जी अग्रवाल के अच्छे हैं। निबंध रचना में सब से ऊँचा स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। मन के आवेग प्रवेगों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने भिन्न भिन्न भावों पर बड़े गंभीर निबंध लिखे हैं जो उनकी पैनी अन्तर्दृष्टि के परिचायक हैं। शुक्ल जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा निबंध के क्षेत्र में चमकी है। आलोचनात्मक निबंध तो उनके उच्चतम कोटि के हैं ही, मनोवैज्ञानिक निबंधों में भी वे सब से आगे हैं। सत्य यह है कि हिन्दी में इतने ऊँचे बौद्धिक स्तर का लेखक दूसरा नहीं हुआ। उनकी शैली, विषय प्रतिपादन और सूक्ष्म विषय-मनन अपने ढंग का निराला है। साहित्यिक निबंध लिखने वालों में आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य ललिता प्रसाद शुक्ल, जैनेन्द्र कुमार, नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र आदि के नाम लिये

जा सकते हैं। विवरणात्मक निबंध की दिशा बहुत खाली है। यात्रा, भ्रमण, जीवन दर्शन, सामाजिक प्रश्न आदि पर जो लिखा गया है वह साधारण कोटि का है। विज्ञान, भूगोल, इतिहास, राजनीति, मनोविज्ञान आदि पर बहुत कम लिखा गया है। जो कुछ है भी उसमें मौलिक बहुत कम––विदेशी लेखकों का जूठन अधिक है। न जाने कितने नये और पुराने विषय ऐसे हैं जिन पर हिन्दी में कोई सामग्री नहीं मिलेगी। जो कुछ मिलता है वह या तो पाठ्य पुस्तकों के प्रणयन के रूप में मिलता है या अनूदित सामिग्री के रूप में। इतिहास की वेदना उत्पन्न करने वाली मार्मिक शैली में लिखे गए डा० रघुवीर सिंह के निबंध हिन्दी में अपने ढंग के हैं। इसी प्रकार संस्कृति का ऐतिहासिक विकास और विभिन्न संस्कृतियों की कशमकश दिखाने वाले श्री भगवतशरण उपाध्याय के निबंध साहित्य के भंडार को संपन्न करते हैं। श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन के आत्म विश्लेषणात्मक निबंधों में अनासक्त व्यंग की चोट है। सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार परंपरा की अपेक्षा रखने वाले विषयों पर निबंधों की कमी है। अधिकतर निबंधों में भावात्मक प्रणाली ही काम में लाई जाती है।

गद्य हमारे साहित्य की नई प्रवृत्ति है। लगभग एक हजार वर्ष तक हम कविता की भाषा में सोचते रहे हैं। जैसे जैसे जीवन की जटिलता बढ़ी और नई नई उलझन से भरी परिस्थितियाँ सामने आई वैसे वैसे अभिव्यक्ति का यह माध्यम हमें संकीर्ण लगा और गद्य का प्रवर्तन हुआ। पर इस थोड़े से समय में ही हिन्दी गद्य ने शैलियों की अपूर्ण विविधता और विभिन्नता को जन्म दिया है। शैली की दिशा में न जाने कितने प्रयोग हुए हैं। आज के लेखक की अनुभूति बड़ी जटिल और संशयग्रस्त है। मनुष्य का मन ज्ञान विज्ञान के अध्ययन द्वारा अनेक रूपों में खुलने मुँदने लगा है। अपनी अभिव्यंजना के लिए वह नये नये प्रयोग करता है––अभिव्यक्ति के नये नये तरीके निकालता है। साथ ही आज का युग आलोचना

का युग है और जीवन के मूल्य द्रुतगति से बदल रहे हैं। इसलिए आज के लेखक की शैली भावात्मकता को छोड़ कर धीरे धीरे मनोवैज्ञानिक और तर्क प्रधान होती जाती है। वैयक्तिक अहम् का स्थान धीरे धीरे सामाजिक चेतना लेती जाती है। पन्त, निराला, महादेवी आदि कवि गद्य लिखते हैं तो उसे काव्य तत्वों से अलंकृत कर देते हैं। वाक्य योजना के कलात्मक प्रयोग वे करते हैं। समाज शास्त्र और आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव के कारण भाषा का शब्द कोष भी बढ़ गया है। पर यह गद्य शैली तत्समता की ओर झुकती है। गंभीर विषयों के आलोचन में एक प्रकार आचार्य शुक्ल जी की ही परंपरा चल रही है या आगे बढ़ रही है।

साहित्य में नई नई शैलियों का प्रादुर्भाव नये नये व्यक्तित्वों के उद का द्योतक है। जो साहित्य जितना प्राणवान होगा उसमें उतनी ही विवि धता और रुचि वैभिन्य होगा। नई प्रवृत्तियों और जानकारियों की अभिव्यंजना के लिए सदैव लेखक को नये शब्द कोष का निर्माण करना पड़ा है। गहन विषयों के विश्लेषण में जहाँ तक शैली की दुरूहता न हो वहाँ तक वह न अच्छा है। गंभीर पांडित्यपूर्ण, तथ्य प्रधान शैली आज हिन्दी आलोचना और विषय विवेचन में चल रही है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की शैली में सरसता और मार्दव होता है तो पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की शैली में तुली तुली कटी छँटी सुडौलता और वैज्ञानिकता। ये हिन्दी प्रतिनिधि शैलीकार हैं। इसी प्रकार अन्य शैलीकारों की भी अपनी अपनी विशेषतायें हैं।